संस्कृति
मानव-कर्त्तृत्व की व्याख्या

संस्कृति

मानव-कर्त्तृत्व की व्याख्या

यशदेव शल्य

वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग, शिक्षा मन्त्रालय, भारत सरकार
की मानक ग्रंथ-योजना के अन्तर्गत सामाजिक विज्ञान हिन्दी रचना
केन्द्र, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर द्वारा प्रकाशित।

प्रथम संस्करण २००० प्रतियां
अक्तूबर १९६९

प्रस्तुत पुस्तक वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग की मानक ग्रंथ-योजना के अन्तर्गत, शिक्षा मन्त्रालय, भारत सरकार के शतप्रतिशत अनुदान से प्रकाशित हुई है।

मूल्य रु० ४-५०

प्रकाशक : सामाजिक विज्ञान हिन्दी रचना केन्द्र,
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर।
मुद्रक : राजस्थान राज्य सहकारी मुद्रणालय लि०, जयपुर-१

श्री गोविन्दचन्द्र पांडे को

प्रस्तावना

हिन्दी और प्रादेशिक भाषाओ को शिक्षा के माध्यम के रूप मे अपनाने के लिए यह आवश्यक है कि इनमे उच्चकोटि के प्रामाणिक ग्रन्थ अधिक से अधिक सख्या मे तैयार किये जाए। भारत सरकार ने यह कार्य वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग के हाथ सौंपा है और उसने इसे बडे पैमाने पर करने की योजना बनाई है। इस योजना के अन्तर्गत अ ग्रेजी और अन्य भाषाओ के प्रामाणिक ग्रन्थो का अनुवाद किया जा रहा है तथा मौलिक ग्रन्थ भी लिखाए जा रहे है। यह कार्य अधिकतर राज्य सरकारो, विश्वविद्यालयो तथा प्रकाशको की सहायता से प्रारम्भ किया गया है। कुछ अनुवाद और प्रकाशन-कार्य आयोग स्वय अपने अधीन करवा रहा है। प्रसिद्ध विद्वान और अध्यापक हमे इस योजना मे सहयोग दे रहे हैं। अनूदित और नए साहित्य मे भारत सरकार द्वारा स्वीकृत शब्दावली का ही प्रयोग किया जा रहा है ताकि भारत की सभी शिक्षा सस्थाओ मे एक ही पारिभाषिक शब्दावली के आधार पर शिक्षा का आयोजन किया जा सके।

"सस्कृति . मानव कर्त्तव्य को व्याख्या" पुस्तक सामाजिक विज्ञान हिन्दी रचना केन्द्र द्वारा प्रस्तुत की जा रही है। आशा है भारत सरकार द्वारा मानक ग्र थो के प्रकाशन सम्बन्धी इस प्रयास का सभी क्षेत्रो मे स्वागत किया जायेगा।

बाबूराम सक्सेना
अध्यक्ष

वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग
शिक्षा मन्त्रालय,
नई दिल्ली।

प्रकाशकीय

मुझे यह जानकर हर्ष होता है कि हमारे विश्वविद्यालय के तत्वावधान मे सामाजिक विज्ञान हिन्दी रचना केन्द्र की ओर से श्री यशदेव शल्य कृत "सस्कृति मानव-कर्त्तृत्व की व्याख्या" पुस्तक का प्रकाशन हो रहा है। इससे पूर्व इस केन्द्र से प्रतिष्ठित समाजशास्त्रियो और अर्थशास्त्रियो के बहुत से ग्रन्थो के अनुवादो का प्रकाशन हो चुका है। सस्कृति विषयक प्रस्तुत पुस्तक केन्द्र से प्रकाशित होने वाली प्रथम मौलिक कृति है। श्री शल्य ने इस पुस्तक मे मानवीय सर्जन के बहुत से महत्वपूर्ण पक्षो पर विचार किया है। सस्कृति को उन्होने मानव के आत्म-सर्जन के प्रयत्न के रूप मे देखा है इसलिये उचित ही इस पुस्तक का अन्तिम अध्याय मानव-स्वातन्त्र्य पर है।

मेरा विश्वास है कि यह पुस्तक सस्कृति के सम्बन्ध मे महत्वपूर्ण विचार-सामग्री हिन्दी के माध्यम से देगी और विज्ञ पाठक के अतिरिक्त विद्यार्थियो के लिये भी उपयोगी सिद्ध होगी।

पी० एल० भटनागर
उप-कुलपति, राजस्थान विश्वविद्यालय
जयपुर

प्राक्कथन

इस पुस्तक के प्रथम सात अध्याय अगस्त १९६७ से फरवरी १९६८ के बीच लिखे गये थे और आठवा अध्याय सितम्बर १९६८ मे अखिल भारतीय दर्शन परिषद् की गोष्ठी मे पढने के लिये लिखा गया था। यह पुस्तक इतने थोडे समय मे इसलिये लिखी जा सकी क्योकि इसमे उस सिद्धान्त का विशदीकरण मात्र है जिसका प्रतिपादन इससे थोडे ही समय पहले प्रकाशित मेरी पुस्तक "ज्ञान और सत्" मे हुआ था। तब भी, इतनी जल्दी यह बाध्यतावश ही लिखी गयी। जो भी हो, इसे लिखना मेरे लिये बहुत अधिक लाभदायक रहा, मैंने अपने अभिप्राय को स्वय अधिक सम्यक् रूप से समझा। इस विशदीकरण के प्रसग मे कुछ नये और मूलगामी प्रतिपादन भी इस पुस्तक मे हुए जिनके विशदीकरण मे मै अब सलग्न हू। इसका पूर्वाभास तत्वचिन्तन त्रैमासिक के वर्ष २, अक २ मे प्रकाशित मेरे लेख "इतिहास-बोध" मे मिलता है।

इस पुस्तक के सभी अध्याय विभिन्न पत्रिकाओ मे प्रकाशित हो चुके हैं प्रथम अध्याय बिन्दु त्रैमासिक मे, दूसरा, चौथा तथा सातवा तत्वचिन्तन मे तथा तीसरा, पाचवा और आठवा दार्शनिक त्रैमासिक मे। छटा तथा आठवा अध्याय आलोचना त्रैमासिक मे तथा सातवा अध्याय माध्यम मे भी प्रकाशित हुए।

पुस्तक के लेखन-काल मे सर्वश्री चादमलजी, गोविन्दचन्द्रजी पाण्डे, दयाजी, पपापति राव तथा नन्दकिशोरजी से विचारविमर्श का अवसर मिलता रहा है और उससे लाभान्वित हुआ हू। पाण्डेजी से विचारविमर्श का अवसर अधिक मिलता है और वह विशेष पुरस्कारक भी होता है। पुस्तक के कुछ अध्याय पाडुलिपि मे दयाजी, चादमलजी तथा श्री प्रेमसागर ने पढे थे। पृ० १३८ की पादटिप्पणी दयाजी के एक प्रश्न का परिणाम है। दुर्भाग्यवश चादमलजी और राव यहा से चले गये हैं जिससे एक अपूर्व रिक्तता मेरे लिये उत्पन्न हो गयी है, यद्यपि चादमलजी मेरे प्रति अपार स्नेहवश यहा अक्सर आते रहते है।

डी–१४, बापूनगर,
जयपुर
१५–१०–६९

यशदेव शल्य

विषय सूची

संस्कृति

मानव-कर्त्तृत्व की व्याख्या

प्रवेश

(संस्कृति के आयाम और समाजशास्त्र की सभावनाए)

पिटरिम सोरोकिन ने अपने विशाल ग्रथ "सोश्यल एड कल्चरल डिनेमिक्स" मे सास्कृतिक विकास की बहुमुखीनता का सविस्तर और सोदाहरण विवेचन किया है। यह बहुमुखीनता कला, नीति और सत्य सभी क्षेत्रो मे समानरूप से लक्षित होती है। ज्ञान के क्षेत्र मे उसका निष्कर्ष है कि ज्ञान की सभी व्यवस्थाओ या सिद्धान्तो की समान प्रतिष्ठा है, सत्य पर सबका दावा बराबर है, इसके लिये केवल पूर्व-प्रतिज्ञाए चुनने की बात है। उसने ज्ञान अथवा सत्य की व्यवस्थाओ की परिगणना निम्न प्रकार से की है (१) ऐन्द्रिय ज्ञान तथा इस पर आधारित सत्य, (२) बौद्धिक ज्ञान तथा बौद्धिक सत्य, (३) अतीन्द्रिय और अतिबौद्धिक ज्ञान तथा अतीन्द्रिय सत्य (आइडियेश्नल ट्रूथ), (४) समन्वित ज्ञान तथा सत्य की समन्वित व्यवस्था, और (५) व्यवस्था-हीन स्थिति।

इस प्रकार, सोरोकिन के अनुसार ज्ञान व सत्य सापेक्ष व्यवस्थाए है। हमने इस सापेक्षतावाद के औचित्य पर अपनी पुस्तक "ज्ञान और सत्" के चतुर्थ और पचम अध्यायो मे विचार किया है। यहा हमने सत्य, कला तथा नीति की विभिन्न व्यवस्थाओ की सापेक्षता पर विचार करने के बजाय अपने उन निष्कर्षो को ध्यान मे रखते हुए मानव-सस्कृति की विभिन्न रचनाओ के स्वरूप पर विचार किया है।

मनुष्य को उसकी जो विशेषता पशु से पृथक् करती है वह यह है कि वह प्रदत्तो के विश्व मे नही रह कर व्यवस्थात्मक या सरचनात्मक विश्व मे रहता है। सरचना (स्ट्रक्चर) को हमने कही-कही अर्थ-सन्दर्भ भी कहा है। सरचना अथवा अर्थ-सन्दर्भ से हमारा तात्पर्य है चित् या मन की क्रिया, जो किसी विषय के होने की प्रागपेक्षा होती है। इस प्रकार जितने प्रकार के विषय है उतने ही प्रकार के अर्थ है, अथवा कहे, जितने प्रकार के अर्थ है उतने ही

प्रकार के विषय हैं, क्योंकि अर्थ विषयो का रचयिता है। यद्यपि पशु-व्यवहार भी अर्थ-क्रियात्मक ही होता है किन्तु उसके विषय 'अर्थ-क्रिया के क्षण' मे प्रस्तुत होते है, मानव-विषय व्यवस्थात्मक होते हैं। 'पुराण' अध्याय मे हमने इस अरचनात्मकता की उपमा कुम्हार और उसके चाक से दी है जिस पर गोचरताए (ऐन्द्रिय सवेद) विषयाकार लेती है। किन्तु यह उपमा कोई पूर्ण उपमा नही है, केवल अभिव्यजक उपमा है, क्योंकि यह, अधिक से अधिक, ऐन्द्रिय विषयो के लिये ही उपयुक्त हो सकती है। "विषय" से सामान्यत 'ऐन्द्रिय विषय' ही अर्थ लिया जाता है—यह जो हम मेज, कुर्सी, भोजन, कठोर, गन्धवान आदि के रूप मे ग्रहण करते हैं। ये निश्चित ही विषय हैं, किन्तु ये एकमात्र विषय नही हैं, और पुन, ये भी 'प्रदत्त' विषय नही हैं, कम-से-कम, ये भाषा से व्यवहित होते है। इनके रचना-तत्व अनेक है, इनमे ऐन्द्रिय विषयो के रचना-तत्वो का निरूपण हमने आगे "प्राकृतिक विज्ञान" अध्याय मे किया है। किन्तु जैसाकि हमने कहा, ये केवल एक प्रकार के विषय हैं, उतने ही ठोस विषय गणित, धर्म, भाषा और नीति के हैं। इनकी विभिन्नता इस बात मे नही है कि इनकी पूव-प्रतिज्ञाए भिन्न हैं (पूर्व-प्रतिज्ञाओ का प्रश्न केवल सत्य के प्रसग मे उत्पन्न होता है) बल्कि इस बात मे है कि इनमे रचनात्मक भेद हैं, ये विभिन्न आयामो के समान एकत्र और पृथक्कृत हैं। इनमे किसी विशिष्ट आयाम के प्रति विशेषाग्रह संस्कृति को विशिष्ट व्यक्तित्व देता है, यह आग्रह एक आयाम को प्रतिष्ठित कर अन्यो को तिरस्कृत भी करता है, उदाहरणत कुरान मे कलाए वर्जित हैं, प्रत्यक्षवादी दर्शन उन्हे सवेगात्मक मानता है, किन्तु रचनात्मक आयामो के रूप मे इनके सम्बन्ध मे इनकी प्रतिष्ठता-अप्रतिष्ठता के प्रश्न अप्रासगिक होते हैं।

हमने 'संस्कृति' को 'रचनात्मक अर्थ' कह कर परिभाषित किया है। ये विभिन्न आयाम रचनात्मक अर्थो के आयाम है, इनमे मानव-चित् का अर्थ और वस्तुमूलक द्वैत विषय मे एकत्व पाता है। इस प्रकार अर्थ को देखकर उसकी वस्तु का और वस्तु को देखकर उसके अर्थ का स्वरूप जाना जा सकता है। हमने अगले अध्यायो मे इन रचनात्मक अर्थों के स्वरूपो पर, और परिणामत. इनकी वस्तुओ के स्वरूपो पर, विचार किया है। इन विभिन्न रचनाओ को सास्कृतिक वृत्तिया भी कह सकते है क्योकि ये सास्कृतिक चेतना के आकार हैं, अथवा कहे, ये मन के संस्कृति-रूप सस्थान (पैटर्न्स) हैं। इस प्रकार,

इनके विषय सास्कृतिक विषय हैं। (द्रष्टव्य प्रथम अध्याय)

× × ×

अर्थ की सरचनात्मकता मनुष्य को कारणात्मक शृ खला से मुक्त कर स्वातन्त्र्य मे अधिष्ठित करती है, वह भोक्ता मे कर्त्ता बनता है। उसकी सास्कृतिक वृत्ति क्या आकार लेगी, इसका कोई निर्धारण नही हो सकता, क्योकि अब वह कारण-शृ खला मे मूलित नही होकर कारण-शृ खला उसमे मूलित होती है, यह उसको प्रज्ञा का एक विकल्प (केटेगरी आफ अ डरस्टैंडिंग) बनती है। किन्तु उसकी यह स्वतन्त्रता उसे एक दूसरे बन्धन मे डालती है, यह है उसके अर्थ की तन्त्रमयता का बन्धन, वह इस तन्त्र का, सरचना के तर्क का, उल्लघन नही कर सकता। आगे 'भाषा' अध्याय मे हमने इस रचनात्मक 'निर्धारितता' पर प्रकाश डाला है, किन्तु यह उतना ही सही अन्य रचनाओ के लिये भी है। किन्तु यह निर्धारितता वास्तव नहीं होकर केवल प्रतीयमान है, क्योकि इस निर्धारितता के बिना स्वतन्त्रता की प्रतिष्ठा ही सभव नही है—"स्व" "तन्त्र" को पूर्वापेक्षित करता है। किन्तु यह स्वतन्त्रता मानव को केवल सस्कृति-मानव के रूप ही उपलब्ध होतो है, व्यक्ति इसमे पूर्णात परतन्त्र है, सास्कृतिक प्राणी के रूप मे उसका स्व स्वाधिष्ठित नही है, वह सास्कृतिक स्व मे अधिष्ठित है। (द्रष्टव्य अ २) इस प्रकार, व्यक्ति की स्वतन्त्रता का अधिष्ठान अन्यत्र है, यदि यह अधिष्ठान अन्यत्र नही हो तो "व्यक्ति" का कुछ अर्थ नही रहेगा, तब वह व्यष्टि मात्र होगा। बहुत से विचारक वैयक्तिक स्व को स्वीकार नही करते, दूसरे सास्कृतिक स्व को स्वीकार नही करते, और तीसरे किसी स्व को स्वीकार नही करते—इन अन्तिम विचारको के सिद्धान्त पर हमने दूसरे अध्याय मे विचार किया है। स्वभावत यदि अन्तिम विचारको का मत माना जाय तो स्वातन्त्र्य का भी कोई अर्थ नही रह जाता है और हम उतने ही कारण-शृ खला मे निबद्ध हो जाते है जितने अन्य प्राणी और भौतिक वस्तुए। किन्तु जैसाकि हमने देखा, यह मत उचित प्रतीत नही होता। इसलिये ये विभिन्न सास्कृतिक आयाम मानवीय स्वातन्त्र्य के प्रतिष्ठापक हैं, अथवा कहे, मानवीय स्व इनमे अपने को उपलब्ध करता है। इनके बिना मानव-समाज मधुमक्खी-समष्टि के अनुरूप होता—जैव कारणता मे निबद्ध।

यहा सामान्यरूप से उस सामाजिक सिद्धान्त की अयुक्तता देखी जा सकती है जो समाज को वैज्ञानिक विषय के रूप मे देखता है। वह मानव-समाज और

मधुमक्खी-समष्टि को पृथक् नही कर सकता, क्योकि "सर्जनात्मकता" का उसके लिये कोई अर्थ नही है, उसके लिये सामाजिक सम्बन्ध जैव-सामाजिक कारणता के कार्य है, मूल्य इन सम्बन्धो से सलग्न सवेग हैं। वह यह नही देख पाता कि मधुमक्खी-व्यष्टि मे ये सम्बन्ध सवेगात्मक रूप से अधिक गहरे मूलित होते है, व्यष्टि-मक्खी अपनी समष्टि से पृथक् कर देने पर शीघ्र ही मर जाती है, उसका पृथक् अस्तित्व सभव ही नही है। तब मानवीय मूल्य और पाशव सवेग मे क्या अन्तर है ? वह कहता है, कोई अन्तर नही है सिवाय जटिलता की अधिकता के, अथवा कहे, उद्दीपन और प्रतिक्रिया के बीच व्यवधान अधिक दीर्घ होने के।

आप इस दैहिक व्याख्या का प्रतिवाद नही कर सकते, क्योकि यह अपने मे पूर्ण और अतएव अभेद्य हे, किन्तु इसे स्वीकार करने का अर्थ होगा उस तन्त्र-व्यवस्था के स्वरूप का अस्वीकार जो अन्यथा स्पष्ट दीखता है। उदाहरणत गणितीय अनिवार्यता को ले, यह अनिवार्यता कारणात्मक अनिवार्यता नही है यह स्पष्ट है, यह रचनात्मक अनिवार्यता है। (द्रष्टव्य, अ ८) ठीक यही रचनात्मकता सभी सास्कृतिक व्यापारो मे है। अन्तर केवल रूप का हैं। धर्म अपना रचनात्मक अर्थ उद्घाटित करता है, कला और नीति आदि अपने। इनकी मूल्यात्मकता इनकी सावेगिकता मे नही बल्कि मनुष्य के अपने कर्त्तव्य के अर्थ-बोध मे है। सम्बन्धो की यह मूल्यात्मकता समाज की पूर्वापेक्षा हैं, इनके बिना यह समष्टि रहता है। इस प्रकार, समाज का जन्म सम्बन्धो के मूल्याविष्ट होने के साथ होता है। इसका अर्थ यह नही कि मै अपने भाई से प्रेम अपने कर्त्तृत्व के अर्थ-बोध के रूप मे करता हू, वह तो निश्चय ही सस्कारवश करता हू, इस प्रकार मनोवैज्ञानिक जिन्हे 'सामाजिक प्रवृत्तिया' कहते है वे मनुष्य मे अवश्य ही हैं, उनके बिना समाज की सभावना ही नही होती, किन्तु केवल ये हमे समष्टिता से आगे नही ले जा सकती थी, समष्टि मे समाज-तत्व का प्रवेश कर्त्तव्य-बोध के साथ होता है। कर्त्तृत्व का अर्थ-बोध अथवा कर्त्तव्य-बोध पुन मानव-कर्म के स्वातन्त्र्य का प्रतिष्ठापक है। (द्रष्टव्य अ ६) समाजशास्त्री सामान्य रूप से यह भेद समझने मे असमर्थता प्रदर्शित करते है जब वे मूल्यो को समाज-सस्कार सापेक्ष रूप मे देखते हैं; दूसरे शब्दो मे, वे मूल्य और संस्कार मे भेद नहीं कर पाते। जैसाकि हमने 'नैतिक मूल्य' अध्याय मे देखा है, कर्त्तव्य-निर्णय के प्रसंग अवश्य ही समाज-

सस्कार-सापेक्ष होते हैं, किन्तु यह प्रश्न कि 'क कर्त्तव्य है या नही' समाज-सस्कार सापेक्ष नही होता। उदाहरणत, महात्मा गाधी के सम्मुख चौरी-चौरा मे हत्याए होने के समय प्रस्तुत प्रश्न "कि उन्हे सत्याग्रह बन्द करना चाहिये या नही ?" समाज-सस्कार सापेक्ष नही था, वह मौलिक प्रश्न था जो अपने उत्तर की माग मानव-कर्म के परम अर्थ के सन्दर्भ मे कर रहा था। गाधीजी ने उसका असामान्य उत्तर देकर मानव-कर्म के अर्थ को नया उत्कर्ष दिया। कहा जा सकता है कि उन्होने वह उत्तर भारतीय होने के कारण दिया, निस्सदेह, किन्तु यह भी निश्चित है कि उनका पिता भी यह उत्तर इसका नही देता, अन्य भारतीयो की तो बात क्या है। किन्तु केवल यह वैशिष्ट्य या विलक्षणता ही इस उत्तर को सस्कार से पृथक् नही करती बल्कि इस प्रश्न और इसके उत्तर का स्वरूप करता है—यह प्रश्न और उत्तर स्वरूपत कारण-कार्यात्मक नही है।

इसका अर्थ यह नही है कि हम समाजशास्त्र की सभावना का ही निषेध कर रहे हैं, सभवत इससे समाजशास्त्र की सभावना बढती ही है, क्योकि, जैसाकि हमने पीछे कहा, मानव-सस्कृति स्व-निर्धारक है और इस निर्धारकता मे एक अनिवार्यता भी है, चचलता और अनियम के लिये कही स्थान नही है। आवश्यकता केवल मानव और समाज का अर्थ सही समझने की, और परिणामत समाजशास्त्र का सही प्रयोजन समझने की, है। इस समय समाजशास्त्र जिन नियमितताओ को नापने और जिन सस्थानों (पैटर्न्स) को अनुसूचित करने को अपनी इतिकर्त्तव्यता मानता है वे अयुक्त अवधारणाओ (इन्वेलिड कासेप्ट्स) पर प्रतिष्ठित हैं। ये नियमितताए निश्चय ही उसे समाज मे मिलेंगी, आप अपनी कोई भी परीक्षा-योजना (फ्रेम आफ रेफरेंस) बनाए आपको उसकी अनुरूपताए मिलेंगी ही, किन्तु यह तथ्य इस परीक्षा-योजना की युक्तता (वैलिडिटी) सिद्ध नही करता, परीक्षा-योजना को युक्तता, उस योजना से पृथक्, विषय के स्वरूप-निर्णय से आती है। मनोविज्ञान के एक उदाहरण से यह अधिक सहज रूप मे समझा जा सकता है बुद्धिमत्ता-भागफल-परीक्षा (आई-क्यू टैस्ट) के उत्तर कुछ तो निकलेंगे ही, और यह परीक्षा अपने अनुरूप विषय, अथवा कहे परीक्ष्य, को प्राप्त करेगी ही, किन्तु यह अनुरूपता ही इस योजना को युक्तता नही दे सकती, यह युक्तता इस परीक्षा की अवधारणा से स्वतन्त्र, बुद्धि के स्वरूप-निर्णय से आएगी।

इसका यह अर्थ भी नही है कि मनुष्य सस्कार-बद्ध है ही नही, अधिकाशत वह सस्कार-बद्ध ही है, इसीलिये रचनात्मक विचार अन्त मे रूढि में जड हो जाता है। मनुष्य के इस सस्कार-मूलक पक्ष को बहुत बढाया भी जा सकता है, किन्तु मनुष्य का व्यवच्छेदक गुण इसके ठीक विपरीत है, और समाजशास्त्र को उसकी उपेक्षा नही करनी चाहिये।

वर्तमान समाजशास्त्र की कठिनाई उसके विज्ञानाग्रह के कारण है, जो केवल मात्रा या परिमाण को ही देख सकता है। समाजशास्त्र की इस भ्रान्त धारणा के पीछे भ्रान्त मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त है जो मन को साख्यिकीय परीक्षण-विषय (स्टेटिस्टिकल डैटा) के रूप मे ग्रहण करता है। उदाहरण के लिये मूल्यो मे परिवर्तन-विषयक परीक्षण की किसी सारणी को लें। समाजशास्त्री प्रश्न करता है कि लडकिया किस प्रकार के पति चाहेगी। एक सौ लडकिया इस प्रश्न का उत्तर देती है और समाजशास्त्री अपनी सारणी मे सख्याए भर देता है। अब यह मारणी क्या प्रदर्शित करती है ? क्या समाजशास्त्री जानता है कि वह क्या प्रश्न कर रहा है ? और क्या ये उत्तर मूल्य सम्बन्धी कुछ भी सूचना देते हैं ? मान लीजिये कि पचास लडकिया उत्तर देती ह कि वे सैनिक को पति के रूप मे चाहेगी। क्या इससे समाजशास्त्री यह अनुमान कर सकता है कि वे वास्तव मे सैनिक को ही चाहती है ? "सैनिक" का क्या अर्थ है ? क्या यह समाजशास्त्री या लडकिया समझती है ? क्या कोई "सैनिक" होता है ? समाजशास्त्री इस उत्तर से यह निष्कर्ष निकाल सकता है कि इन लडकियो का विवाह यदि सैनिको के साथ कर दिया जाय तो वह सफल होगा ? यदि इनमे से कोई लडकी विवाह के बाद कहती है कि वह अब "सैनिक" से घृणा करती है, तो क्या इसको वह कही अपने अवधारणात्मक सस्थान मे स्थान दे सकता हे ?

किन्तु समाजवैज्ञानिक की मुख्य और गभीरतर भ्रान्ति मूल्य का इच्छा या अभिनिवेश के साथ समीकरण करने मे हे। जैसा कि हमने "नैतिक मूल्य" अध्याय मे देखा है, "मूल्य" इच्छा का ठीक विपरीतार्थक है, इसका स्रोत विवेक मे है जो प्राय ही इच्छा के विपरीत कर्म के लिये मानव-कर्त्ता को नियोजित करता है। कब व्यक्ति पराधीन भाव से इच्छाओ और अभिनिवेश का अनुसरण करेगा और कब वह मूल्यानुसरण के रूप मे अपनी स्वाधीनता की प्रतिष्ठा करेगा, यह किसी प्रकार निश्चित नही किया जा सकता।

सबसे बडी बात यह है कि समाज-वैज्ञानिक इस स्वाधीनता का कोई अर्थ नही समझता, इसलिये उसकी सारणी इस पूर्वधारणा पर प्रतिष्ठित है कि मनुष्य एक इच्छा-बद्ध प्राणी है। इसलिये वह भविष्योक्ति मे अपनी असफलता का कारण केवल अपने परीक्षण-विषय की जटिलता को मानता है। जैसाकि हमने पिछले अनुच्छेद मे देखा, यह कठिनाई भी कम बडी नही है, और वास्तव मे यह इतनी बडी है कि वैज्ञानिक के कार्य को असभव बना देती है, किन्तु तब भी इससे सैद्धान्तिक रूप से समाजवैज्ञानिक का काय अयुक्त नही होता। मूल्य की विद्यमानता उसके कार्य को सिद्धान्तत असभव बना देती है। इसलिये, हमारे विचार मे, समाजशास्त्र विज्ञान के रूप मे असभव है। समाजशास्त्र के लिये उचित विधि ऐतिहासिक-दार्शनिक विधि है। यह विधि समाज को एक सास्कृतिक व्यवस्था के रूप मे देखेगी, जिसका अधिष्ठान क्रिया-प्रतिक्रियात्मक शरीर-समुदाय नही होकर मूल्य और आदर्श मे है, जो मूल्यादर्श ऐतिहासिक सन्दर्भ मे अपने अर्थ का विकास करता है।

किन्तु हमने यहा सस्कृति पर ऐतिहासिक सदर्भ मे विचार नही किया है, क्योकि वह विशेष समाजो का अध्ययन ही हो सकता है, अथवा सोरोकिन और टायनबी के समान विशाल चित्रपट पर हो सकता है। हमने यहा उन अर्थों के स्वरूप पर विचार किया है जिनमे मूल्यादर्श रचित होते है। उदाहरणत सोरोकिन जिसे सेंसेट कल्चर कहते है उसके मूल्यादर्श का क्या रूप है, यह हमने "प्राकृतिक विज्ञान" अध्याय मे देखा है और जिसे आइडियेशनल कल्चर कहते हैं उसके अर्थ-रूप को "धर्म" अध्याय मे। हमारे अन्य अध्याय सोरोकिन के अन्य अर्थ-रूपो से सम्बन्धित नही किये जा सकते, किन्तु प्राकृतिक विज्ञान मे हमने गणित के सम्बन्ध मे जो कहा है वह उनके "बौद्धिक सत्य" से मेल खाता है। भाषा और नीति प्रत्येक सस्कृति के आधारभूत अर्थ-रूप हैं और पौराणिकता एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक सास्कृतिक वस्तुस्थिति। इसलिये इनपर भी विचार किया गया है।

१

सस्कृति का स्वरूप

किसी भी वस्तु अथवा वस्तुस्थिति के स्वरूप पर विचार बड़े जटिल प्रश्नो को जन्म देता है। ऐसा क्यो है, यह जानना एक बहुत रोचक बात है, यद्यपि स्वय मे जटिल भी है। हम कभी मेज के, लोहे के या गाय के स्वरूप पर विचार नही करते, जबकि मानव के स्वरूप पर विचार करने मे असख्य ग्रन्थो का निर्माण हुआ है। गाय, मेज आदि को हम प्राणी और भौतिक वस्तु के उदाहरणो के रूप मे ग्रहण कर इन पर विचार करते है, अर्थात् हम जीवन और भौतिक वस्तु के स्वरूपो पर विचार करते है। इसी प्रकार से हम विज्ञान, धर्म, दर्शन, समाज, सस्कृति आदि के स्वरूपो पर भी विचार करते हैं। हम रमेश या सुरेश के स्वरूपो पर विचार नही करते, किन्तु व्यक्ति के स्वरूप पर विचार करते हैं।

इस स्वरूप-विचार मे क्या निहित है, क्यो हम गाय के स्वरूप पर विचार नही करते और मानव के स्वरूप पर विचार करते हैं? ऐसा नही है कि गाय का कोई स्वरूप ही नही है, सब वस्तुओ का स्वरूप-स्वभाव होता है, किन्तु गाय के स्वरूप मे उससे अधिक कुछ निहित नही है जो उसकी शरीर-रचना अथवा/तथा आकृति मे हम देखते है। कम से कम हमारे लिए गाय एक ऐसा ही विषय है जिसका स्वरूप हमे लगभग पूर्णत ऐन्द्रिय रूप से प्रदत्त है। जीव-वैज्ञानिक और शरीर-वैज्ञानिक की, अथवा गवाले की भी, उसके स्वरूप-ज्ञान मे रुचि होती है—जिससे उससे अधिक दूध लिया जा सके। इसके विपरीत, जब हम मानव के स्वरूप के सम्बन्ध मे प्रश्न करते हैं तब यह प्रश्न उसकी शरीर-रचना अथवा उसकी शरीराकृति के सम्बन्ध मे नही होता, तब हम उस विषय के स्वरूप को जानना चाहते है जो हमारी अन्तश्चेतना मे हमे

अर्ध-प्रत्यक्ष सा होता है, जिसका न शरीर है और न आकृति। आप पूछेंगे, जो विषय अन्तश्चेतना मे उजागर होता हे वह अर्ध-प्रत्यक्ष सा क्यो है ? और वह रहस्यमय क्यो है ? वह तो पूर्ण स्पष्ट होना चाहिए ? यह प्रश्न सही है, किन्तु तव भी यह सही है कि इस मानव-विपय का स्वरूप अत्यन्त रहस्यमय हैं और इसे जानना अत्यन्त दुष्कर है। इसकी जाच यहा हम नही करेंगे, किन्तु यहा इतना स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि ऐन्द्रिय-प्रत्यक्ष विषयो के अतिरिक्त जितने विषय है उनकी अवधारणा प्रत्यय के रूप मे हम करते हैं, अर्थात् उसका स्वरूप मुख्य रूप से सैद्धान्तिक अर्थो (थ्योरेटिकल मीनिंग्स) मे बना होता है। मानव-विषय भी एक ऐसा ही विपय है, इसी प्रकार विज्ञान, धर्म, मस्कृति आदि है। उदाहरण के लिए धर्म को लें, धर्म का क्या स्वरूप है ? मन्दिर धर्म का प्रतीक है, आख मूद कर प्रार्थना मे बैठना भी धर्म का प्रतीक है, किन्तु क्या यह धर्म है ? तव धर्म क्या है ? क्या यह कोई वस्तु है, अथवा कोई वैसी अनुभूति है जैसी सिर दर्द या आह्लाद की अनुभूति होती है ? स्पष्टत. यह ऐसा विषय नही है। तव कुछ लोग कहेगे, ऐसी अवस्था मे यह केवल शब्द है जिसका कोई अर्थ नही है। यदि इन लोगो को हम उत्तर देंगे नो बडी जटिल दार्शनिक चर्चा मे उलझ जायेंगे, इसलिए हम यहा केवल इतना ही मकेत करेंगे कि यह प्रतिपादन भी, कि यदि कुछ इन्द्रियगोचर नही है तो वह कुछ नहीं है, और ऐसी वस्तु का वाचक शब्द एक निरर्थक शब्द है, एक अत्यन्त जटिल सिद्धात है, जिसकी कुछ चर्चा हम आगे करेंगे। यहा इतना ही कहना पर्याप्त है कि धर्म एक सैद्धातिक विषय है और इसी प्रकार मानव भी बहुत कुछ एक सैद्धातिक विषय है।

किन्तु विज्ञान, धर्म, मस्कृति आदि प्रत्यय, विशेषत पिछले दो प्रत्यय, दुगने जटिल है, क्योकि ये मानव की अवधारणा को पूर्वकल्पित करते है, अर्थात् जो हमारी मानव की अवधारणा होगी उसके अनुसार ही हमारी मस्कृति और धर्म की अवधारणा भी निर्धारित होगी। यहा सोरोकिन से एक उद्धरण देना रोचक होगा। सोरोकिन विशाल सास्कृतिक व्यवस्थाओ (सिस्टम्स) की चर्चा करते हुए कहते है—"इनके मूलत आत्मसगत (कसिस्टेंट) होने से, ये मानव की तार्किक (और अ गत अति-तार्किक भी) सृजनशीलता की महद्-अभिव्यक्तिया है। इनका अस्तित्व मात्र उन सव सिद्धातो की भ्रान्तता सिद्ध कर देता है जो मानव को और उसकी सस्कृति को मुख्यत तर्कहीन

और अ-तार्किक मानते है ।"[१] इस उद्धरण मे यद्यपि ऐसा प्रतीत होता है मानो सस्कृति के स्वरूप मे मानव का स्वरूप निगमित किया जा रहा है, क्योकि इसमे सस्कृति की तर्क-सगतता मे मानव की तर्कात्मता निगमित की गयी है। किन्तु थोडा गहराई से देखने पर यह स्पष्ट हो जायगा कि यह निगमन हमारी बात को सिद्ध ही करता है, क्योंकि यहा सस्कृति को, और विभिन्न सास्कृतिक रूपो (फोर्म्स) (भाषा, विज्ञान, धर्म आदि) को, मानव की रचनाओ के रूप मे देखा जा रहा है। यदि ये व्यवस्थित रचनाए है तब स्वभावतः इनका रचयिता तर्कात्मक स्वभाव-युक्त है, और यदि वह तर्कात्मक स्वभावयुक्त है तब उसकी रचनाओ मे हमे केवल ऊपरी सगति ही नही बल्कि अन्तर्गत सगति और सार्थकता भी देखनी चाहिए। इसके विपरीत यदि मानव स्वरूपत तर्क-हीन हैं तब सस्कृति आदि मे प्रतीयमान सगति वास्तव मे सगति नही है, यह केवल आरोपण है, ऊपर से लादी गई चीज, उस अवस्था में "'सस्कृति' शब्द किसी ठोस यथार्थ (सत्) का वाचक नही है, बल्कि केवल अमूर्त कल्पना (एब्स्ट्रैक्शन) है, और जैसा कि इस शब्द का सामान्यत प्रयोग किया जाता है, यह एक धुधली अमूर्त कल्पना है ।"[२]

इस उद्धरण से स्पष्ट है की ब्राऊन सरचना (स्ट्रक्चर) को अथवा तर्क-सस्थान को यथार्थ (सत्) नही स्वीकार करते है, इसीलिये वे सस्कृति को भी यथार्थ स्वीकार नही करते है, और परिणामत वे "मानव" को भी यथार्थ स्वीकार नही करेंगे, क्योकि, जैसा कि हमने पीछे देखा, "मानव" भी उतना ही प्रत्यक्ष-अगम्य है जितनी सस्कृति। किन्तु इस तथाकथित ठोस यथार्थ तक सीमित रहने का अर्थ है अपने आपको एक ऐसे महत्वपूर्ण आयाम से वचित कर लेना जिसके बिना ससार केवल सम्बन्ध-हीन वस्तुओ और अध-घटनाओ का सघात मात्र रह जाता है। ब्राऊन के कथन के पीछे यही धारणा है, कि मानव-शरीर हम देखते है, यह जीव-विज्ञान का विषय है, यह शरीर कुछ विशेष प्रकार का व्यवहार करता है, जिसको समझने और नियम देने के लिये

---

१ पिटरिम सोरोकिन-सोश्योलोजीकल थीयरीज ऑफ टू-डे पृ १३, न्यूयार्क, हार्पर एड रो, १९६६

२ राबर्ट ब्राउन-स्ट्रक्चर एड फक्शन इन प्रिमिटिव सोसाइटीज, पृ २, ग्लेंको, दि फ्री प्रेस।

मनोविज्ञान है। तब इस शरीर और उसके विशेष व्यवहार से अधिक और ऊपर क्या है ? यह कुछ नही हो सकता, क्योंकि वह न प्रत्यक्षगम्य है और न प्रयोग-गम्य (एक्स्पेरीमेंटल), इसलिये यह केवल अमूर्त कल्पना ही हो सकता है।

ऊपर हमने देखा कि किसी विषय के स्वरूप-विचार मे क्या निहित है। इसे हम सूत्ररूप मे कहे तो कह सकते है कि वे ही विषय स्वरूप-विचार के उचित विषय हो सकते है जिनकी रचना और आकार अर्थ-मूलक होता है। उदाहरणत घट मनुष्य-रचित है किन्तु इसकी आकृति देश-मूलक है और रचना मे पृथ्वी तत्व का उपयोग हुआ है, इसके विपरीत गणित की आकृति और रचना विशुद्धत अर्थ-मूलक है। अब, गणित के समान विषय ही स्वरूप-विचार के विषय हो सकते है। इसे सोरोकिन "अर्थ-मूल्य-आदर्श"[3] कहते है और कैसीरर "प्रतीक"[4]।

इसका अर्थ यह नहीं है कि घट मे कुछ प्रतीकात्मकता नही है, अर्थ नही है, बहुत अधिक है, क्योकि इसकी निर्माण-प्रक्रिया, सौष्ठव और उपयोग मे कल्पना, धारणा और युक्ति मूर्तित होते है, यह उस मन की रचना है जो उसी मिट्टी और उसी चाक मे अनेक अन्य आकारो की सृष्टि करता है। किन्तु इसकी प्रतीकात्मकता अथवा अर्थमयता ठीक इसके इसी गुण मे है कि यह उपयोगी और सुन्दर आकारो के सर्जक और उन्मेषक तत्व से उत्कीर्ण होता है। इस रूप मे—अर्थात् प्रत्यय रूप मे—इसका स्वरूप-विचार हो सकता है, किन्तु घट-रूप मे नही।

सस्कृति का क्या स्वरूप है ? इस प्रश्न की एक और उलझन है। जब हम भाषा, गणित और विज्ञान आदि के सम्बन्ध मे ऐसा ही प्रश्न करते है तब एक न्यूनाधिक निश्चित वस्तुस्थिति हमे प्रदत्त होती है जिसकी अर्थ-रचना (मीनिंग-स्ट्रक्चर) पर हमे विचार करना होता है, किन्तु 'सस्कृति' शब्द के वाच्य के सम्बन्ध मे वह निश्चय भी नही है। सस्कृति को यदि एक "वस्तुओ

---

३ पिटरिम सोरोकिन, वहीं, पृ १२

४ अर्न्स्ट कैसीरर–एन एस्से ऑन मैन, येल, यूनिवर्सिटी प्रेस, १९५४ तथा अर्न्स्ट कैसीरर–फिलोसोफी आफ सिम्बालिक फार्म्स, जिल्द १,२,३, मुख्यत जिल्द २, येल यूनिवर्सिटी प्रेस

तथा घटनाओ का ऐसा वर्ग" कहता है "जो कायिक (सोमैटिक) सन्दर्भ से भिन्न प्रतीकात्मक सन्दर्भ मे उत्पन्न होती है"[५] तो दूसरा कहता है कि "संस्कृति के स्वरूप की जिज्ञासा वास्तव मे अर्थ तथा मूल्य के स्वरूप की जिज्ञासा है। इसकी रुचि मानव के मानसिक तथा नैतिक स्वभाव के ज्ञान मे है, क्योकि यह (जिज्ञासा) संस्कृति को विचार-क्रिया के रूप मे, अथवा ऐसी क्रिया के रूप मे जो विचार द्वारा प्रेरित होती है, देखती है।"[६] एक अन्य के अनुसार "संस्कृति ऐसी संस्थानीकृत (पैटर्न्ड) तथा क्रियात्मक रूप से ग्रथित प्रथाओ को कह सकते हैं जो किसी विशिष्ट सामाजिक समुदाय मे सम्बन्धित विशिष्ट मानव-व्यक्तियो मे सामान्य हो।"[७] बोआस के अनुसार "संस्कृति ऐसी मानसिक तथा शारीरिक प्रतिक्रियाओ और क्रियाओ को कहा जा सकता है जो एक सामाजिक समुदाय के घटक व्यक्तियो के व्यवहार को विशेषित करती है।"[८] मैकाइवर तथा पेज जबकि संस्कृति को "हमारी जीवन-विधा तथा विचार-विधा मे, प्रति-दिन के परस्पर आदान-प्रदान तथा कला, साहित्य, धर्म, विश्राम तथा मनोरंजन की विशिष्ट विधाओ मे व्यक्त हमारी प्रकृति"[९] कहते हैं और इसे "सभ्यता का प्रति-ध्रुव" कहते है, तब सोरोकिन विचार-स्वभाव से लेकर उत्पादित वस्तुओ तक को एक ही सूत्र मे रखते है जो "धारणा-व्यवहार-वस्तुमय व्यवस्था" (आईडियलोजीकल-बिहेव्यरल-मैटीरियल सिस्टम) है।"[१०]

इन परिभाषाओ मे देखा जा सकता है कि इन मे कितना आमूल मतभेद है

---

५ लेस्ली ए व्हाइट—"कासेप्ट आफ कल्चर," एम एफ एश्ले माटेग द्वारा सम्पादित कल्चर एण्ड दि एवोल्यूशन आफ मैन, मे संकलित, पृ ४०, न्यूयार्क, आक्सफर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस, १९६२

६ एफ आर कोवेल—कल्चर इन प्राइवेट एण्ड पब्लिक लाइफ, पृ ४०, थेम्स एंड हडसन, लंदन, १९५९

७ जोह्न गिल्लिन—दि वेज आफ मैन, पृ १७८, एप्लेटन सेंच्युरी क्राफ्ट्स, १९४८

८ फ्रेज बोआस—दि माइंड आफ प्रिमिटिव मैन, पृ १५९, न्यूयार्क, मैकमिलन एंड कं, १९३८

९ मैकाइवर तथा पेज—सोसाईटी, लंडन, मैकमिलन एंड कम्पनी १९५०

१० सोरोकिन, वही पृ २०

एक के अनुसार सस्कृति प्रतीकात्मक सन्दर्भ मे रचित वस्तुए और घटनाए है, दूसरे के अनुसार ये सस्कृति हो ही नही सकती, वह इसे अर्थ तथा मूल्य के रूप मे देखता है, एक सस्कृति को किसी जाति का "इगित, गति, चेष्टागत वैशिष्ट्य" मानता हे तो दूसरा इन्हे सस्कृति स्वीकार न कर इनसे कल्पित अमूर्त प्रत्यय को सस्कृति कहता है, एक जीवन-दृष्टि को सस्कृति मानता है और इसे मानव-निर्मित वस्तु-घटना-सम्पत्ति का प्रतीप (एटीथीसिस) मानता है तो दूसरा इन सभी को "सस्कृति" सज्ञा से विभूषित करता है। तव इस प्रश्न पर विचार आरभ ही कैसे हो कि सस्कृति क्या है ? इसका एक उपाय यही हो सकता है कि हम इन तथा ऐसी अन्य परिभाषाओ का लघुत्तम खोजे और तब उस मूल उपकरण से पुन एक पूरी मूर्ति गढने का प्रयत्न करे। इसमे एक प्रकार की याहच्छिकता (आर्बिट्रेरीनेस) अवश्य रहती हे, किन्तु तब भी यथासभव वस्तुस्थिति के प्रति सही रहने का प्रयत्न रहना चाहिये।

इन परिभाषाओ का लघुत्तम क्या है ? वास्तव मे इनका लघुत्तम खोजना अत्यधिक कठिन है, क्योकि इनमे से कुछ परिभाषाए परस्पर पूर्णत विरुद्ध हैं। ऐसी अवस्था मे एक ऐसी धारणा ही सामान्य हो सकती है जो अपनी व्यापकता मे सभी कुछ का समावश करले और इस प्रकार कोई उपयोग सिद्ध नही करे। तव भी सभवत प्रस्तुत प्रसग मे स्थिति उतनी निराशा-जनक नही है। सस्कृति के सभी विवेचक यह स्वीकार करके चलते हैं कि मानवेतर जीवो मे सस्कृति नही होती, सस्कृति केवल मानव-प्राणी की विशिष्टता है। दूसरे, वस्तु हो या व्यवहार, सवेद हो या अनुभूति, सभी, या इनमे से कोई भी, सस्कृति का वाहक तभी हो सकता है जवकि उस पर किसी अर्थ और कल्पना की छाप हो। जो लाग विचार-मूल्य-धारणा को मस्कृति नही मानकर वस्तुओ को या दृश्य वस्तुस्थितियो को सस्कृति मानते है वह इसलिये क्योंकि वे केवल दिखाई देने वाली वस्तुओ की ही सत्ता स्वीकार करते है, अथवा कम से कम, विज्ञान के प्रति अधिक वफादारी के कारण यह आवश्यक मानते हैं कि सस्कृति के अध्ययन के लिये हम इन्द्रियगोचर स्थितियो तक ही अपने को सीमित रखें। यद्यपि यह अन्तर मौलिक महत्व का है किन्तु तव भी दीमको की वाम्वी को नगर से भिन्न करने के लिये तथा बया के घोसले को मकान से या घट से भिन्न करने के लिये हमे ऐसे कुछ की कल्पना करनी पडेगी ही जो नगर, मकान और घट मे क्रियान्वित होता है और जिममे वया का घोसला और दीमक की वाम्वी

रहित है। इस प्रकार वस्तुओ और वस्तुस्थितिया को सस्कृति मानने वालो मे एक ओर तथा अर्थ-मूल्य को सस्कृति मानने वालो मे दूसरी ओर तत्वमीमासा की दृष्टि मे चाहे जितनी भी भिन्नता हो, यहा सस्कृति के विवेचन के सदर्भ मे इसकी उपेक्षा की जा सकती है। इसलिये सोरोकिन का अर्थ-मूल्य को सस्कृति का एक पक्ष (धारणात्मक) तथा निर्मित वस्तुओ को उसका दूसरा पक्ष (भौतिक) कहना उचित ही है। किन्तु तब भी मैकाइवर-पेज-कृत भेद मे कुछ विचार्य हे। ये लेखक, तथा इसी प्रकार मे सभ्यता और सस्कृति मे अन्तर करने वाले कुछ दूसरे लेखक भी, कला-बोध (धारणा-पक्ष) तथा कलाकृति (भौतिक पक्ष) को एक ही शृखला को दो कडियाँ मानते है, किन्तु इसके विपरीत टाईप-राईटर, मोटरकार आदि को सस्कृति नही मानते हैं। क्योकि, इनके अनुसार, कलाकृति मूल्यात्मक-अवधारणा की अभिव्यक्ति है। इन सब वस्तुओ (चित्र, नाटक, चलचित्र फिल्म, खेल, एक दर्शन-सम्प्रदाय, मदिर) को हम अस्तित्व मे लाते है क्योकि हम इन्हे अपने आप मे (निरपेक्षत) मूल्यवान् मानते है, क्योकि इनका प्रयोजन हमे अव्यवहित रूप मे वह देना है जिसकी हम आकाक्षा करते हैं, जिसे हम चरितार्थ करना चाहते है, ये हमारी आकाक्षापूर्ति के लिये माध्यम मात्र नही है। ये (कलाकृतिया आदि) वे विधाए मात्र है जिनमे हम अपने को अभिव्यक्त करते हे। ये एक ऐसी अनिवार्यता के प्रति प्रतिक्रियाए हैं जो हमारे अपने भीतर है, किसी बाह्य अनिवार्यता के प्रति नही। मैकाइवर-पेज इन्हे (टाईप-राईटर आदि उपयोगी वस्तुओ को) तथा कलाकृतियो को "मानवीय अनुभव के दो महान क्षेत्र"[११] कहते हैं।

प्रथम दृष्टि मे इन दो क्षेत्रो मे अन्तर स्पष्ट है, उपन्यास की पुस्तक मे लेखक के अनुभव-कल्पना मे तथा उसके भौतिक रूप (पृष्ठा पर अकित स्याही की आकृतियो) मे एक व्यवधानरहित तारतम्य होता है, वास्तव मे उपन्यास की पुस्तक मे कागज आदि अप्रासगिक हैं, अक्षरो के आकार आदि भी अप्रासगिक है, केवल अनुभव-कल्पना ही प्रासगिक है जो सयोगवश इस स्याही मे, इस आकृति के अक्षरो मे और इस कागज पर, मूर्त हुई है। इसके विपरीत टाईप-राइटर है जो उपयोगी है, जिसका भौतिक आकार महत्वपूर्ण है, जो अनुभव-कल्पना की अभिव्यक्ति न होकर अभिव्यक्ति का साघन भर है—आदि।

---

११ वही, पृ ४६६

किन्तु, जैसाकि हमने कहा, यह अन्तर केवल प्रथम दृष्टि मे ही स्पष्ट है, जरा गहराई से देखने पर यह अन्तर वास्तविक अन्तर नही रहता। टाइपराईटर उतना ही अर्थ, कल्पना और मूल्य-प्रसूत है जितना एक चित्र, यह अनुभव, कल्पना और मूल्य का विशेष स्तर और विशेष रूप प्राप्त हुए विना अस्तित्व मे नही आ सकता। अनेकानेक टाइपराईटर उसी प्रकार प्रथम टाइपराईटर की प्रतिकृतिया है जिस प्रकार से प्रथम लिखित उपन्यास की असख्य प्रतिया होती हैं। तब भी एक अन्तर है—टाइपराईटर अपने निर्माता के लिये भी उपकरण है जबकि उपन्यास उपकरण नही है। किन्तु चित्र क्या है? चित्रकार की आत्माभिव्यक्ति? किन्तु कौन कह सकता है कि चित्रकार ने चित्र अपने स्वामी या प्रेयसी का कमरा सजाने के लिये नही वनाया है? और मकान? और मन्दिर? क्या ये उपकरण नही हैं? इसी प्रकार आप राजनैतिक तथा आर्थिक सस्थाओ को किस वर्ग मे रखेंगे? मैकाइवर-पेज इन्हे सामाजिक तकनीकी (सोश्यल टेक्नालोजी) कहकर सभ्यता के अन्तर्गत रखते हैं। इसके पीछे उनका एक गहरा भ्रम छिपा है। वे ऐसा मानते प्रतीत होते हैं कि व्यक्तिगत सृजन तो अर्थ-मूल्य-कल्पना की अभिव्यक्तिया है किन्तु सामाजिक सहति मे हुए सृजन अर्थ-मूल्य-कल्पना की अभिव्यक्तिया नही हैं। नहीं तो राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक सस्थाए उतनी ही विशिष्ट विधाओ मे अर्थ-कल्पना-मूल्य की अभिव्यक्तिया है जितनी कविता, उपन्यास या चित्र हैं। आप कह सकते है कि इनमे चेतन प्रयत्न अथवा सृजनात्मकता कही दिखाई नही देती, इसके विपरीत इनमे एक प्रकार की वाध्यता है, जडता है, इसलिये इन्हे अर्थ-कल्पना-मूल्य-प्रसूत नही कह कर वाह्य वस्तुस्थितिया कहना उपयुक्त है। किन्तु हमारे विचार मे यह उचित नही है, ये अर्थ-कल्पना-मूल्य-परक अनुभव के दो भिन्न स्रोत मात्र हैं और एक मे उतनी ही सृजनात्मकता है जितनी दूसरे मे। एक का स्रोत सामाजिक है और दूसरे का व्यक्तिगत। वास्तव मे, अनुभव का व्यक्तिगत स्रोत भी अनुभव के सामाजिक स्रोत मे परिवेष्टित रहता है। ठीक बात तो यह है कि सामाजिक अनुभव को ही सस्कृति कहते हैं, व्यक्तिगत अनुभव को नहीं। व्यक्तिगत अनुभव सामाजिक अनुभव के दर्पण के रूप मे ही सस्कृति कहलाता है।

यह प्रतिपादन एक नयी समस्या खडी कर देता है—सामाजिक अस्तित्व की, अथवा कहे समाज-मन की व्यक्तियो मे अतिरिक्त समाज का अस्तित्व कहा

रहित है। इस प्रकार वस्तुओ और वस्तुस्थितिया को सस्कृति मानने वालो मे एक ओर तथा अर्थ-मूल्य को सस्कृति मानने वालो मे दूसरी ओर तत्वमीमासा की दृष्टि मे चाहे जितनी भी भिन्नता हो, यहा सस्कृति के विवेचन के सदर्भ मे इसकी उपेक्षा की जा सकती है। इसलिये सोरोकिन का अर्थ-मूल्य को सस्कृति का एक पक्ष (धारणात्मक) तथा निर्मित वस्तुओ को उसका दूसरा पक्ष (भौतिक) कहना उचित ही हे। किन्तु तब भी मैकाइवर-पेज-कृत भेद मे कुछ विचार्य है। ये लेखक, तथा इसी प्रकार मे सभ्यता और सस्कृति मे अन्तर करने वाले कुछ दूसरे लेखक भी, कला-बोध (धारणा-पक्ष) तथा कलाकृति (भौतिक पक्ष) को एक ही शृखला की दो कडियाँ मानते हैं, किन्तु इसके विपरीत टाईप-राईटर, मोटरकार आदि को सस्कृति नही मानते है। क्योकि, इनके अनुसार, कलाकृति मूल्यात्मक-अवधारणा की अभिव्यक्ति है। इन सब वस्तुओ (चित्र, नाटक, चलचित्र फिल्म, खेल, एक दर्शन-सम्प्रदाय, मदिर) को हम अस्तित्व मे लाते है क्योकि हम इन्हे अपने आप मे (निरपेक्षत) मूल्यवान् मानते हैं, क्योकि इनका प्रयोजन हमे अव्यवहित रूप मे वह देना है जिसकी हम आकाक्षा करते है, जिसे हम चरितार्थ करना चाहते है, ये हमारी आकाक्षापूर्ति के लिये माध्यम मात्र नही है। ये (कलाकृतिया आदि) वे विधाए मात्र है जिनसे हम अपने को अभिव्यक्त करते हैं। ये एक ऐसी अनिवार्यता के प्रति प्रतिक्रियाए है जो हमारे अपने भीतर है, किसी बाह्य अनिवार्यता के प्रति नही। मैकाइवर-पेज इन्हे (टाईप-राईटर आदि उपयोगी वस्तुओ को) तथा कलाकृतियो को "मानवीय अनुभव के दो महान क्षेत्र"[११] कहते हैं।

प्रथम दृष्टि मे इन दो क्षेत्रो मे अन्तर स्पष्ट है, उपन्यास की पुस्तक मे लेखक के अनुभव-कल्पना मे तथा उसके भौतिक रूप (पृष्ठा पर अकित स्याही की आकृतियो) मे एक व्यवधानरहित तारतम्य होता है, वास्तव मे उपन्यास की पुस्तक मे कागज आदि अप्रासगिक हैं, अक्षरो के आकार आदि भी अप्रासगिक है, केवल अनुभव-कल्पना ही प्रासगिक है जो सयोगवश इस स्याही मे, इस आकृति के अक्षरो मे और इस कागज पर, मूर्त हुई है। इसके विपरीत टाईप-राइटर है जो उपयोगी है, जिसका भौतिक आकार महत्वपूर्ण है, जो अनुभव-कल्पना की अभिव्यक्ति न होकर अभिव्यक्ति का साधन भर है—आदि।

---

११ वही, पृ ४६६

किन्तु, जैसाकि हमने कहा, यह अन्तर केवल प्रथम दृष्टि मे ही स्पष्ट है, जरा गहराई से देखने पर यह अन्तर वास्तविक अन्तर नही रहता। टाइपराईटर उतना ही अर्थ, कल्पना और मूल्य-प्रसूत है जितना एक चित्र, यह अनुभव, कल्पना और मूल्य का विशेष स्तर और विशेष रूप प्राप्त हुए बिना अस्तित्व मे नही आ सकता। अनेकानेक टाइपराईटर उसी प्रकार प्रथम टाइपराईटर की प्रतिकृतिया है जिस प्रकार से प्रथम लिखित उपन्यास की असख्य प्रतिया होती है। तब भी एक अन्तर है--टाइपराईटर अपने निर्माता के लिये भी उपकरण है जबकि उपन्यास उपकरण नही है। किन्तु चित्र क्या है? चित्रकार की आत्माभिव्यक्ति? किन्तु कौन कह सकता है कि चित्रकार ने चित्र अपने स्वामी या प्रेयसी का कमरा सजाने के लिये नही बनाया है? और मकान? और मन्दिर? क्या ये उपकरण नही है? इसी प्रकार आप राजनैतिक तथा आर्थिक सस्थाओ को किस वर्ग मे रखेंगे? मैकाइवर-पेज इन्हे सामाजिक तकनीकी (सोश्यल टेक्नालोजी) कहकर सभ्यता के अन्तर्गत रखते हैं। इसके पीछे उनका एक गहरा भ्रम छिपा है। वे ऐसा मानते प्रतीत होते हैं कि व्यक्तिगत सृजन तो अर्थ-मूल्य-कल्पना की अभिव्यक्तिया है किन्तु सामाजिक सहति मे हुए सृजन अर्थ-मूल्य-कल्पना की अभिव्यक्तिया नही हैं। नही तो राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक सस्थाए उतनी ही विशिष्ट विधाओ मे अर्थ-कल्पना-मूल्य की अभिव्यक्तिया है जितनी कविता, उपन्यास या चित्र है। आप कह सकते है कि इनमे चेतन प्रयत्न अथवा सृजनात्मकता कही दिखाई नही देती, इसके विपरीत इनमे एक प्रकार की बाध्यता है, जडता है, इसलिये इन्हे अर्थ-कल्पना-मूल्य-प्रसूत नही कह कर बाह्य वस्तुस्थितिया कहना उपयुक्त है। किन्तु हमारे विचार मे यह उचित नही है, ये अर्थ-कल्पना-मूल्य-परक अनुभव के दो भिन्न स्रोत मात्र हैं और एक मे उतनी ही सृजनात्मकता है जितनी दूसरे मे। एक का स्रोत सामाजिक है और दूसरे का व्यक्तिगत। वास्तव मे, अनुभव का व्यक्तिगत स्रोत भी अनुभव के सामाजिक स्रोत मे परिवेष्टित रहता है। ठीक बात तो यह है कि सामाजिक अनुभव को ही सस्कृति कहते हैं, व्यक्तिगत अनुभव को नहीं। व्यक्तिगत अनुभव सामाजिक अनुभव के दर्पण के रूप मे ही सस्कृति कहलाता है।

यह प्रतिपादन एक नयी समस्या खडी कर देता है—सामाजिक अस्तित्व की, अथवा कहे समाज-मन की व्यक्तियो से अतिरिक्त समाज का अस्तित्व कहा

है ? व्यक्ति-मनो से पृथक् समाज-मन की क्या सत्ता है ? यह अत्यन्त जटिल प्रश्न है और इस पर हम अगले अध्याय मे विचार करेंगे, यहा केवल इतना ही कहना अभिप्रेत है कि सभ्यता और संस्कृति मे भेद, जैसा कि मैकाईवर-पेज तथा अन्य बहुत से लोग करते है, उचित प्रतीत नही होता। यहा एक बात और द्रष्टव्य है कोई एक उपन्यास या कविता, अथवा सभी उपन्यास और कविताए भी, संस्कृति नही है, ये सास्कृतिक अभिव्यक्तिया हैं। इन्हे सास्कृतिक अभिव्यक्तिया कहने का अर्थ हे कि यदि किसी समाज ने उपन्यास नही रचे है तो यह तथ्य इस बात का सकेत है कि उस समाज की संस्कृति के अर्थ-मूल्य-आदर्श के आकार (रूप) मे ऐसी कुछ विशिष्टता होनी चाहिए। यह भी सभव है कि यह तथ्य उस संस्कृति के सास्कृतिक स्वभाव मे किसी गहरे गुण का निदर्शक हो और यह भी हो सकता है कि यह एक आकस्मिक बात हो। प्रथम अवस्था मे, बाहर का प्रभाव उसे सरलता से प्रभावित नही करेगा जबकि दूसरी अवस्था मे बाहर का प्रभाव तुरन्त प्रभाव डालेगा और उस समाज मे शीघ्र अच्छे उपन्यास-लेखक उत्पन्न होगे। किसी संस्कृति के अर्थ-मूल्य-आदर्श के आकार की विशिष्टता इससे भी अधिक इस बात मे झलकती है कि उसके उपन्यासो या अन्य साहित्य-रूपो मे कैसे चरित्र, कैसी घटनाए, कैसे अलकार और कैसा बोध प्रमुखता पाते है—ये कैसा समग्र प्रभाव उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार कालीदास और शेक्सपीयर के नाटको मे तुलना, जहा तक ये जातीय गुण का प्रतिनिधित्व करते हैं, रोचक हो सकती है। शेक्सपीयर के नाटको मे सघर्ष, हत्या, विद्रूपता का दुखान्तक चित्रण और कालीदास के नाटक-काव्यो मे माधुर्य, मार्दव, शृगार-सन्यास की आभा का सुखान्तक चित्रण दो संस्कृतियो की स्वभावगत विशिष्टताओ का जितनी गहराई से परिचय देते हैं उतनी गहराई से यह तथ्य परिचय नही देते कि जिस शताब्दी मे कादबरी भारत मे लिखा गया उस शताब्दी तक इगलैड मे अभी उपन्यास-रचना का आविर्भाव नही हुआ था। उससे भी कही कम सास्कृतिक स्वभाव की विशिष्टता इस बात मे झलकती है कि यन्त्र-घडियो का आविष्कार पहले स्वीडन मे हुआ था। किन्तु तब भी, यान्त्रिकी का स्तर विशेष जाति के मानस से एकदम से विच्छिन्न नही होता, तकनीकी उद्भावनाओ का सामर्थ्य सास्कृतिक स्वभाव का द्योतक है। जिस प्रकार एक व्यक्ति अवसर मिलने पर दूसरे से कही अधिक जल्दी शिल्प-कौशल सीख जाता है और उसमे नये आविष्कार की सामर्थ्य दिखाता है

और यह तथ्य उसके मानस का, उसके व्यक्तित्व का, द्योतक होता है, उसी प्रकार सस्कृतियो मे भी होता है। किन्तु पुन , किसी जाति का शिल्प-कौशल मे पिछड़े होना केवल एक आकस्मिक बात भी हो सकती है, और उस अवस्था मे शिल्प-कौशल प्राप्त करना आवश्यक रूप से उसके स्वभाव को गहराई से प्रभावित नही करता ।

किन्तु इस प्रश्न का एक दूसरा पक्ष भी है हम सामाजिक अनुभव मे तीन विधाए देखते है—एक विधा वह है जो वृद्धिशील है, अर्थात् उसमे क्रमिक प्रगति और अधिकता देखी जा सकती है, शिल्प-कौशल और वैज्ञानिक तथा अन्य प्रकार के ज्ञान इस कोटि मे आते है। दूसरी विधा वह है जिसमे वृद्धि तो नही होती है किन्तु तब भी वह इतिहास बनाती है—सामाजिक-राजनैतिक-आर्थिक सस्थाए इस कोटि मे है। तीसरी विधा वह है जो इस प्रकार से क्रमिक इतिहास भी नही बनाती है, वृद्धि का तो प्रश्न ही इसमे उत्पन्न नहीं होता। कलाए तथा दर्शन इस कोटि मे आते है। वास्तव मे दूसरी विधा भी केवल अ शत ही इतिहास बनाती है, क्योकि एक सामाजिक सस्था दूसरी से स्थानान्तरित हो जाती है और कभी कभी यह स्थानान्तरण एक झटके से ही होता है, जैसे राजनैतिक सस्थाओ मे, कानून बनाकर विवाह जैसी सामाजिक सस्थाओं के रूप मे भी परिवर्तन किया जा सकता है। नयी सस्था पुरानी सस्था के इतिहास से प्राय कुछ ग्रहण नही करती, यह प्राय उसके निषेध पर प्रतिष्ठित होती है। अब, क्योकि दूसरी कोटि वृद्धि के बिना इतिहास बनाती है इसलिए प्राय ही यह इतिहास इसके रूढ और जड होने का इतिहास होता है। इसको समाप्त कर नयी सस्था के उत्पन्न होने का अर्थ है कि इस विधा मे भी वह सर्जनात्मकता रहती है जो तीसरी कोटि का स्वरूप-लक्षण है। इनकी जडता इस बात मे है कि ये उस उपयोग से पृथक् और ऊपर अपना अस्तित्व बना लेती है जिस उपयोग की सिद्धि के लिए इनका जन्म होता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि एक जीवत समाज मे सस्थाए भी सृजनात्मकता से अन्त प्रविष्ट रहती है और इस प्रकार निरन्तर नया रूप लेती रहती है, जबकि कम जीवत समाज मे ये स्थिर हो जाती है। इसी को सास्कृतिक पिछडाव (कल्चरल लैग) कहते है। इस प्रकार से दूसरी कोटि तीसरी मे मिलती सी प्रतीत होती है। किन्तु प्रथम और तृतीय मे एक आमूल भेद प्रतीत होता है। इसका अर्थ यह नही है कि कलाओ और दर्शन

आदि मे कोई ऐतिहासिकता नही रहती है, इनमे एक निश्चित परम्परा रहती है और इनका अपना एक स्पष्ट अस्तित्त्व होता है, किन्तु यह परम्परा न तो वैज्ञानिक ज्ञान के समान वर्द्धनशील होती है और न सस्थाओ के समान इनमे समय के साथ परिपाक ही होता है। इनमे उत्कर्ष का उच्चतम शिखर या तो किसी व्यक्ति मे प्रतिभा-विस्फोट के रूप मे निष्पन्न होता है या फिर जातीय जीवन मे ही कोई ऐसा अविवेचनीय सयोग उपस्थित होता है कि उस काल मे उस सस्कृति का सामान्य दार्शनिक या कलात्मक स्तर उन्नत होता है। किन्तु सृजनात्मकता के इस शिखर पर न कोई आरोहण का क्रम होता है और न अवरोहण का, यह नये पहाड के समान एकदम उठता है और नये भू-विस्फोट के साथ एकदम गिरता है।

हमारे इस प्रतिपादन मे एक पक्ष छूटता सा प्रतीत होता है। कालिदास मे प्राप्त काव्योत्कर्ष का कोई इतिहास नही है किन्तु उस छन्द, अलकार, ध्वनि आदि का इतिहास है, निरन्तर गम्भीर होता हुआ काव्यानुभव कालिदास के काव्य का उत्तराधिकार है। किन्तु इसकी सत्यता के बावजूद यह देखा जा सकता है कि इस पक्ष मे भी कालिदास से कालिदासोत्तर काव्य का उत्कृष्टतर होना आवश्यक नही हे, और प्राय ही यह नही होता है। यहा यह ध्यान रखना आवश्यक है कि हम इन विधाओ के अपने अन्तर्गत-इतिहास की बात कर रहे हैं, इनके निर्धारक ऐतिहासिक कारणो की बात नही कर रहे हैं। ऐसा भी सम्भव है कि कोई समाज प्रथम दृष्टि से तो बहुत समृद्ध हो किन्तु तीसरी दृष्टि से बहुत पिछडा हुआ हो, इसी प्रकार से इसके उलट भी। उदाहरणत, सभव है कोई यह कहना उपयुक्त समझे कि अमरीका इस समय प्रथम पक्ष मे समृद्ध है किन्तु तीसरे पक्ष मे निर्धन है, इसी प्रकार से भारत उपनिषत्, बुद्ध, वाल्मीकि, कालिदास-कालो मे तीसरे पक्ष मे समृद्ध था किन्तु आज उसमे निर्धन है। बल्कि, अनेक बार आदिम समाज कलात्मक दृष्टि से यान्त्रिकी आदि मे समृद्ध समाजो से अधिक समृद्ध होते हैं। इस तीसरे पक्ष को कुछ लोग सस्कृति और प्रथम को सभ्यता कहना उपयुक्त समझते है। इस प्रकार से कहा जा सकता है कि भारत जितना सास्कृतिक दृष्टि से बुद्ध-काल मे समृद्ध था अमरीका आज उस की अपेक्षा उस दृष्टि से नितात निर्धन है। अर्थात् अमरीका सभ्यता मे समृद्ध तथा सस्कृति मे निर्धन है।

यह सार्थक भेद है, किन्तु इसकी कुछ बडी जटिल कठिनाइया है। इसकी

सार्थकता इस बात मे है कि यह वृद्धिशील पक्ष, विषयोन्मुख होने से, एक प्रकार की बाह्यता रखता है, यह अन्तर्मुखीनता से कभी कभी वञ्चित भी करता है जो मानव का विशिष्ट लक्षण है, बाह्योन्मुख होने से यह अपने अधिष्ठान (जिसमे यह है) को समग्रत प्रभावित या उजागर नही करता। उदाहरणत, एक व्यक्ति का महान् वैज्ञानिक होना और अत्यन्त नीरस, सहानुभूतिशून्य, अनैतिक और सौन्दर्य-दृष्टि से शून्य होना सम्भव है किन्तु एक आध्यात्मिक दृष्टि-सम्पन्न व्यक्ति का जिज्ञासा, सौन्दर्य-दृष्टि, सहानुभूति और नैतिकबोध से रहित होना सगत कल्पना नही है। हमारे इस प्रतिपादन मे थोडी स्थूलता है, इसलिए इस पर आपत्ति की गु जाइश है, यह दिखाया जा सकता है कि बहुत से कलाकार अनैतिक होते हैं, धार्मिक लोग जिज्ञासा-रहित होते हैं, और दार्शनिक अनैतिक और सौन्दर्य-दृष्टि शून्य होते है। इसके स्पष्टीकरण के लिए हमे थोडा अधिक गहरे जाना होगा। ज्ञान (अधिक जानने के अर्थ मे) व्यक्ति के अन्य पक्षो को भीतर से प्रभावित नही करता, वह इस रूप मे प्रभावित कर सकता है कि ऐसे ज्ञान से प्राप्त निष्कर्षो को व्यक्ति अपने जीवन मे अपनाने लगे। किन्तु वह इन्हे अपनाए ही, यह आवश्यक नही है, और यदि अपनाए भी तो यह व्यक्तित्व को बाहर से प्रभावित करना हुआ। दूसरे, ये निष्कर्ष कैसे भी हो सकते हैं—ऐसे भी कि "एक कुत्ते मे और बुद्ध तथा ईसा मे कोई मौलिक अन्तर नही है, मात्रात्मक अन्तर हो सकता है" आदि, वास्तव मे आधुनिक मनोविज्ञान, और बहुत बार अन्यान्य सामाजिक विज्ञानो के भी, ऐसे ही निष्कर्ष है भी। इसके विपरीत कला या धर्म व्यक्ति को भीतर से रूपान्तरित कर देते हैं, इनसे युक्त व्यक्ति समग्ररूप से इनके रग से रजित होता है। एक कलाकार दुराचारी हो सकता हैं, किन्तु कला-बोध से गभीर रूप मे प्रभावित व्यक्ति का दुराचार व्यावहारिक (अर्थात् सामाजिक नीति के पैमानो से) दुराचार तो हो सकता है किन्तु उसके व्यक्तित्व की योजना मे वह दुराचार नही होगा। और जब कही एक समाज ही कलात्मक अथवा धार्मिक व्यक्तित्व सम्पन्न हो तब तो उसमे एक भीतरी सामञ्जस्य होने से अन्तर और बाह्य मे वैसा विरोध भी नही होगा जैसा व्यक्ति और समाज के व्यवहार और नीति के पैमानो मे हो जाता है।

यहा दो आपत्तिया की जा सकती हैं। एक तो यह कि हम समाज को व्यक्तियो के ऊपर और पृथक् अस्तित्व दे रहे है, और दूसरी यह कि यदि समाज के

पृथक् अस्तित्व को सिद्धान्तत स्वीकार कर भी लिया जाय तब भी वास्तव मे ऐसा समाज हमे कहा मिलता है ? ऐसा समाज हमे शायद ही मिल सके जिसमे एक आन्तरिक समञ्जसता हो, एक दुर्निवार व्यवस्था हो, जैसीकि हम एक व्यक्ति मे देखते हैं।

इनमे पहली आपत्ति पर हम अगले अध्याय मे विचार करेंगे, जहातक दूसरी आपत्ति का प्रश्न है, उसके सम्बन्ध मे भी यद्यपि हम विस्तार से चर्चा अगले अध्याय मे ही करेंगे किन्तु तब भी यहा इतना कहना चाहते है कि ऐसा व्यक्ति भी एक आदर्श कल्पना ही है जिसके सब विचार, प्रतिक्रियाए, आकाक्षाए और आदर्श एक पूर्णत समजस व्यवस्था मे हों। किन्तु तब भी एक केन्द्रीय सस्थान रहता है जो व्यक्ति-मन का निर्माण करता है और जो विभिन्न विचारो, प्रतिक्रियाओ, आकाक्षाओ, आदर्शों को एक विशिष्ट रूप देता है, अथवा कहे, जिसकी व्यवस्था उसके अधिकाश विचारो, आकाक्षाओ आदि मे झलकती है। असमजस को हम प्रतिरूप, विचित्र, अप्रत्याशित (अन-केरेक्टे-रिस्टिक) कह देते है। यही बात समाज के लिए है। समाज के व्यक्तित्व को हम सस्कृति कहते है, जो अपनी मुख्य अभियोजक वृत्ति से जानी जाती है। किसी सस्कृति से विशेषित काया कितनी बडी होगी, यह निर्धारित नही किया जा सकता, यह कितनी भी बडी हो सकती है। किसी सस्कृति मे दस-बीस ही मनुष्य सहभागी हो सकते है, उदाहरणत किसी नष्ट होते हुए आदिम समाज मे, किसी मे करोडो मनुष्य भी हो सकते है, जैसे चीनी, भारतीय आदि समाजो मे। सस्कृति का कलेवर इससे भी निर्धारित होता है कि हम किस अभियोजक वृत्ति (ऐसा विषय या वासना जो मुख्य निर्धारक है) को अपना प्रसग बनाते हैं, उदाहरणत पजाबी-सिक्ख-सस्कृति, पजाबी सस्कृति, हिन्दू सस्कृति, मुस्लिम सस्कृति, भारतीय सस्कृति, आग्ल सस्कृति, फ्रेंच सस्कृति, अमरीकी सस्कृति और पाश्चात्य सस्कृति इन सबके कलेवरो के विस्तार भिन्न भिन्न हैं। जितनी बडी किसी सस्कृति की काया होती है उसमे उस सस्कृति के वैशिष्ट्य से अकित विचार-व्यवहार-आदर्श का अनुपात अविशिष्ट, अनपेक्षित (अन-केरे-क्टेरिस्टिक) विचार-व्यवहार-आदर्श के अनुपात से कम होता जाता है।

इस प्रकार, असमजसताओ के बावजूद सामाजिक व्यक्तित्व की कल्पना वायवी नही है। अब, यह स्वीकार करने पर यह कहा जा सकता है कि कलात्मक व्यक्तित्वयुक्त समाज और, उससे भी अधिक, आध्यात्मिक

व्यक्तित्वयुक्त समाज की योजना मे अनैतिकता अविशिष्ट और अनपेक्षित केवल व्यवहार के रूप मे ही हो सकती है, उसके व्यक्ति-वैशिष्ट्य को वह भाग नही हो सकती। इसके विपरीत, एक वैज्ञानिक व्यक्तित्वयुक्त समाज मे, अर्थात् एक ऐसे समाज मे जिसकी मुख्य अभियोजक वृत्ति वैज्ञानिकता है, मूल्य-हीनता आदि उसके व्यक्ति-वैशिष्ट्य से असगत नही है। अब यदि अर्थ, मूल्य, आदर्श सस्कृति के लक्षण है तब वैज्ञानिक समाज सास्कृतिक दृष्टि से निम्नतर स्तर का भी हो सकता है, जबकि आध्यात्मिक और कलात्मक दृष्टि से समृद्ध समाज उन्नततर स्तर का ही होगा।

किन्तु, जैसाकि हमने पीछे कहा, इसकी कुछ जटिल कठिनाइया है। ये कठिनाइया दो प्रकार की हैं, एक तो मूल्याकन मात्र की ही कठिनाई है—किस प्रकार से मानदण्ड निश्चित किया जाय? और दूसरे, मानदड निश्चित हो जाने पर, उसके प्रयोग की कठिनाई है। प्रथम कठिनाई की जटिलता से घबराकर अधिकाश नृतत्ववैज्ञानिको ने मूल्याकन की उपयुक्तता को ही स्वीकार करने से इन्कार कर दिया है, यद्यपि इसका दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि मूल्य एक अवैज्ञानिक अवधारणा है।

सस्कृतियो के मूल्याकन और मानदड के प्रश्न पर हम आगे के अध्यायो मे विचार करेंगे। यह एक अत्यन्त जटिल प्रश्न है, और यह और भी जटिल इस कारण से हो जाता हे कि आज सस्कृति का वैज्ञानिक अध्ययन होने लगा है, जो मूल्य-निरपेक्ष सन्दर्भ है। यहा हम उस प्रश्न पर पुन लौटेंगे जिससे हमने यह प्रसग आरभ किया था—कि क्या सामाजिक अनुभव की इन विधाओ मे ऐसा अन्तर है जिसके आधार पर सामाजिक अस्तित्व के सभ्यता और सस्कृति ये दो पक्ष माने जाए?

जैसाकि हमने पीछे देखा, टाईपराईटर और उपन्यास मे मौलिक अन्तर नही है। यह अन्तर और भी कम हो जाता है जब हम एक ओर इनकी उद्भावना मे साम्य और दूसरी ओर एक विक्रेता के लिये इनके उपयोग-साम्य की ओर ध्यान दे। दूसरी ओर विज्ञान और कला मे समानान्तरता है, कि ये दोना दो प्रकार के बोध हैं। इनमे अन्तर है, जैसाकि हमने पीछे देखा, किन्तु सास्कृतिक व्यक्तित्व की दृष्टि से ये एक ही कोटि के है—एक, जैसाकि सोरोकिन कहते है, ऐहिक सस्कृति (सेंसेट कल्चर) को जन्म देता है और

दूसरा रसात्मक सस्कृति को। इस प्रकार से, मैकाइवर-पेज कृत भेद उचित नही है।

निष्कर्ष रूप मे यह कहा जा सकता है कि सस्कृति को सामाजिक व्यक्तित्व कहना उपयुक्त है। इस व्यक्तित्व को, व्यष्टि-व्यक्तित्व के समान ही, उसकी वह अभियोजक वृत्ति, जिसे यहा हम उसके समग्र जीवन-दर्शन का मूल सूत्र कह सकते है, धारण करती है। उदाहरण के लिये, दसवो शताब्दी तक की भारतीय सस्कृति को आध्यात्मिक कहना और तदोत्तर काल की सस्कृति को धार्मिक कहना, मध्यकालीन यूरोप की सस्कृति को धार्मिक और आधुनिक काल की सस्कृति को ऐहिक कहना इसीलिये उपयुक्त है क्योकि इन-इन युगो के इन-इन समाजो का व्यक्तित्व-निर्माण इन-इन समग्र जीवन-दृष्टियो के मूल सूत्रो के अनुसार हुआ था, इन-इन मूल अभियोजक वृत्तियो ने उनके सम्पूर्ण चरित्र को रजित किया हुआ था—नृत्य, गीत, काव्य, शिल्प, परिवार, व्यापार सबके रूप मे वह एक रूप झलकता था। रोबर्ट रैडफील्ड माया ग्राम (एक आदिम ग्राम) के सम्बन्ध मे लिखता है यदि आप उस ग्राम की सस्कृति का अध्ययन करते हुए कृषि जैसी चीज से भी यह अध्ययन आरभ करते और अन्य सस्थाओ तथा रीति-रूढियो के साथ इसके सम्बन्ध की कडियो की परीक्षा करते तब आप पाते कि ये सम्बन्ध अनेक दिशाओ मे बडे गहरे थे। इनकी कृषि व्यवस्था भी इनकी विश्वोत्पत्ति विषयक धारणाओ को झलकाती थी[13]।

---

१३ रावर्ट रैडफील्ड—को-ऑपरेशन एड कन्फ्लिक्ट, पृ ६, यहा आग्डन वोग्ट की कल्ट एड कल्चर, पृ ५९ से उद्धृत, मैक्मिलन एड कम्पनी, १९५१

२

सस्कृति का अधिष्ठान

पिछले अध्याय मे हमने सस्कृति को जातीय व्यक्तित्व कह कर परिभाषित किया था। सस्कृति को जातीय व्यक्तित्व कहने का अर्थ है कि अनुभव, प्रवृत्ति, व्यवहार, चेष्टा आदि का एक ऐसा न्यूनाधिक निश्चित सस्थान (रूप-रचना अथवा आकार) होता है जो मानव-व्यक्तियो से स्वतत्र विद्यमान होता है और उनके अस्तित्व का अतिक्रमण करता है। ये मानव-व्यक्ति उस अतिक्रामी (उनके व्यक्तिगत अस्तित्वो स ऊपर स्थित) व्यक्तित्व-सस्थान मे उसी प्रकार से सहभाग लेते है जिस प्रकार से एक व्यक्ति की विभिन्न प्रवृत्तिया उसके व्यक्तित्व-सस्थान मे सहभाग लेती है। यह अतिव्यक्ति (मानव-व्यक्तित्वो का अतिक्रमण करने वाला व्यक्तित्व) मानो अपने अ गभूत व्यक्तियो को, उनके बिना जाने, अपनी अनुसारिता के लिये नियोजित करता है। हम प्राय ही कहते हैं कि अमुक व्यक्ति इसलिये इस-इस प्रकार का है क्योकि वह अमुक-अमुक समाज अथवा समुदाय (ग्रुप) का सदस्य है, जिसका अर्थ है कि उस समुदाय या समाज का मानस (अनुभव, प्रवृत्ति, व्यवहार, चेष्टा आदि) उस व्यक्ति के मानस का निर्धारण करता है।

किन्तु सस्कृति को अति-व्यक्तित्व कहने मे कुछ अत्यन्त जटिल कठिनाइया है। पहले तो 'व्यक्तित्व' शब्द का अर्थ ही बहुत स्पष्ट नही है। किन्तु यदि तात्कालिक प्रयोजन के लिये इसे स्पष्ट मान भी लिया जाय तब भी 'जातीय व्यक्तित्व' इस पद-प्रयोग की कठिनाइया बहुत जटिल है। 'व्यक्तित्व' शब्द के स्पष्ट अर्थ मे यह भी निहित है कि इसका एक निश्चित और निर्धार्य केन्द्र होगा। इन्द्रियगोचर-ठोस और स्थायी मानव-शरीर इस प्रकार का एक आदर्श केन्द्र है। 'रमेश का व्यक्तित्व', 'सुरेश का व्यक्तित्व' में सामान्य रूप से

इस शरीर-केन्द्र की ही अभीप्सा (निहित-अर्थ) रहती है। 'जातीय व्यक्तित्व' मे कौनसा केन्द्र अभीप्सित है? अथवा कहें, जातीय व्यक्तित्व का अधिष्ठान क्या है? उदाहरणत, भारतीय सस्कृति का अधिष्ठान क्या हो सकता है?

सामान्यत जब हम 'भारतीय सस्कृति' पद का प्रयोग करते है तब केन्द्र अथवा अधिष्ठान के रूप में एक भौगोलिक क्षेत्र की धुंधली कल्पना हमारे मन मे रहती है। वास्तव में इस एकत्व-कल्पना मे भौगोलिक क्षेत्र का कितना महत्व है यह 'भारत माता', 'मातृभूमि' जैसे प्रयोगो से, और इन प्रयोगो के साथ जुडी भावनाओं से, देखा जा सकता है। इसीलिये बहुत से समाजशास्त्री और नृतत्वशास्त्री सस्कृति का अधिष्ठान भू-भाग को भी मानते है। किन्तु इस कल्पना की अयुक्तता थोडा ध्यान देने से ही देखी जा सकती है। विभाजन से पूर्व भारत का भौगोलिक क्षेत्र पश्चिम में बलोचिस्तान तक और पूर्व मे ढाका-चितागोग सहित विस्तारित था और 'भारत' कहने से यही कल्पना हमारे मन मे आती थी, किन्तु अब इस कल्पना मे लाहौर और ढाका का भी समावेश नही होता है। इसका उत्तर हो सकता है कि सुरेश की दोनो टागें कट जाने पर भी वह सुरेश ही रहता है और 'सुरेश का व्यक्तित्व' वाक्य में 'सुरेश' सज्ञा एक शरीर का निर्देश उतने ही अनिश्चित और धुंधले रूप मे करती है जितने में 'भारत' शब्द करता है। इसलिये कुछ क्षेत्रो के अलग हो जाने पर भी सस्कृति का अधिष्ठान प्रदेश को कहने मे कोई असगति नही है, जिस प्रकार सुरेश की टाग कट जाने पर भी सुरेश के व्यक्तित्व का अधिष्ठान उसका शरीर कहना अयुक्त नही है।

यह तर्क एकदम से सही है, कोई सज्ञा पूर्ण रूप से स्पष्ट और निश्चित निर्देश नही करती, अथवा कहे, किसी वस्तु की अवधारणा में आकारादि का पूर्ण निश्चय नही रहता, और जितना निश्चय रहता है उसमे भी कितना और क्या उस वस्तु का अनिवार्य भाग होगा और कितना आनुषगिक यह अनिश्चित रहता है। उदाहरणत एक टाग, एक हाथ, एक कान और एक आख से रहित असख्य घावो वाला शरीर भी "राणा सागा" का उतना ही पूर्ण रूप से अधिष्ठान था जितना इन अ गो के कटने से पूर्व यह शरीर उसका अधिष्ठान था।

किन्तु सस्कृति का अधिष्ठान भौगोलिक क्षेत्र को स्वीकार करने के विरुद्ध कुछ और उदाहरण दिये जा सकते है जो किसी व्यक्ति का अधिष्ठान

शरीर को मानने के विरुद्ध नही दिये जा सकते। उदाहरणत 'भारतीय सस्कृति का प्रसार अनेक सुदूर देशो मे हुआ', 'किसी समय हिन्दचीन में भी भारतीय सस्कृति ही व्याप्त थी' जैसे प्रयोगो मे स्पष्ट हे कि सस्कृति और प्रदेश का सम्बन्ध बाहरी और आनुषगिक ही हे, अनिवार्य सम्बन्ध नही है। किन्तु यह कहा जा सकता है कि वास्तव मे रमेश के व्यक्तित्व का भी सम्बन्ध रमेग के शरीर से आनुषगिक ही है, किसी के मर जाने पर उसके प्रेत रूप मे रहने की, इस प्रेत के दूसरे शरीर मे अवतरण की, चर्चा प्राय ही हम सुनते है, जिसका अर्थ है कि व्यक्तित्व-कल्पना शरीर के बिना भी की जाती है, और इस प्रकार रमेश के व्यक्तित्व और शरीर का सम्बन्ध भी आनुषगिक ही हो जाता है[1]। यह ठीक है, किन्तु तब भी एक गभीर अन्तर है, वह यह कि रमेश का व्यक्तित्व जबकि किसी भी शरीर मे, अथवा अशरीरी रूप मे भी, रह सकता है, यह दो शरीरो मे नही रह सकता, दूसरे शब्दो मे, इस मे एक प्रकार का दैशिक एकत्व रहना आवश्यक है। यह बात सस्कृति के सम्बन्ध मे सही नही है भारतीय सस्कृति हिन्दचीन मे और भारत मे पायी जा सकती है और तब भी बर्मा, मलेशिया आदि अन्तरवर्ती प्रदेशों मे यह नहीं भी हो सकती। किन्तु वास्तव मे इतना अन्तर भी स्पष्ट नही है, यह कहना कठिन है कि हम किसी भी अवस्था मे यह स्वीकार करने को तैयार नही होगे कि "ये दो शरीर रमेश के प्रेत (अशरीरी व्यक्तित्व) से अधिष्ठित है।" यदि सोहन और मोहन के शरीर अकस्मात् एक-साथ एक-सा विचित्र व्यवहार करने लगते है और वे एक-साथ, एक ही ध्वनि-स्वर मे एक ही बात कहते है तब हम इसके अतिरिक्त कुछ नही कहेगे कि रमेश का प्रेत एक-साथ दो शरीरो मे है। इसके विपरीत, यदि हम भारत से बाहर किसी विच्छिन्न प्रदेश मे भारतीय सस्कृति की अनुरूपता देखते हैं तब यदि हम उसे "भारतीय सस्कृति" की सज्ञा देते है तो हम अनिवार्य रूप से यह भी स्वीकार करेंगे कि किसी समय उस प्रदेश मे

---

१ कुछ भारतीय दर्शनो मे सूक्ष्म शरीर की कल्पना भी की गयी है, जो शरीर कि मरणोपरान्त आत्मा का भौतिक अधिष्ठान रहता है। इस कल्पना से स्पष्ट है कि व्यक्तित्व की किसी भौतिक अधिष्ठान के बिना कल्पना कितनी कठिन है। इस प्रश्न पर पी एफ स्ट्रॉसन की पुस्तक "इ डीविडुअल्स" मे बहुत विस्तार से विचार किया गया है।

भारत से कुछ लोग गये होगे, अथवा उस प्रदेश के कुछ लोग भारत रह कर लौटे होगे. अर्थात् हम दो पूर्णत. विच्छिन्न प्रदेशो मे उस प्रकार से एक सस्कृति का अस्तित्व स्वीकार नही कर सकते जिस प्रकार से दो पूर्णत विच्छिन्न शरीरो मे एक व्यक्तित्व का अस्तित्व स्वीकार कर सकते है। इस प्रकार, वास्तव मे "व्यक्तित्व" की अवधारणा मे आदर्श मानव-व्यक्तित्व के भौतिक अधिष्ठान के सम्वन्ध मे उतनी भी निश्चितता नही है जितनी सस्कृति के भौतिक अधिष्ठान के सम्बन्ध मे है। किन्तु उपर्युक्त विमर्श से यह स्पष्ट है कि शरीर और भौगोलिक क्षेत्र को क्रमश मानव-व्यक्तित्व और सस्कृतिक-व्यक्तित्व के अधिष्ठान कहना उपयुक्त नही है।

यह निष्कर्ष अत्यन्त महत्वपूर्ण है, क्योकि ऐन्द्रिय-प्रत्यक्षवादी तथा ऐकिकवादी-नाममात्रवादी (पॉजिटिविस्ट, सिंगुलरिस्ट नॉमिनलिस्ट) दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक तथा समाजशास्त्री "सस्कृति" अथवा "सामाजिक अतिव्यक्तित्व" का कोई अर्थ नही देखते, वे सस्कृति को व्यक्तियो के व्यवहार-प्रवृत्तियो आदि के सघातमात्र के रूप मे ही देखते है। इसका मुख्य कारण यही है कि जबकि वे व्यक्ति के व्यक्तित्व को एक भौतिक शरीर के रूप मे देख सकते है सस्कृति को इस प्रकार एक भौतिक शरीर के रूप मे नही देख सकते। ऐसी अवस्था मे वे निर्मित वस्तुओ तथा सामाजिक, राजनैतिक, सास्कृतिक सस्थाओ आदि को ही अधिष्ठान के रूप मे कल्पित करते है। किन्तु वास्तव मे इनको अधिष्ठान मानने की कठिनाइया भी कम नही है। सबसे बडी कठिनाई तो यही है ये सब सूत्रित होने की अपेक्षा रखते है, ये तब तक अधिक से अधिक एक सघात-मात्र है जबतक कि एक सयोजक तत्व उन्हें नही मिलता।

वास्तव मे भौगोलिक क्षेत्र के बाद सस्कृति के अधिष्ठान के रूप में कल्पना को जो सब से सहज रूप मे उपलब्ध होता है वह है सास्कृतिक समाज के सदस्य व्यक्तियो के मन। यह स्वाभाविक है, क्योकि यदि सस्कृति सामाजिक व्यक्तित्व है तो उसका अधिष्ठान मानव-मन के सिवाय (अथवा शरीर के सिवाय, जिसके सम्वन्ध मे हम ऊपर विचार कर आए हैं) और क्या हो सकता है? किन्तु इसमे भी कुछ दुर्लंघ्य कठिनाइया है। सब से बडी कठिनाई तो मन को परिभाषित करने की है। यदि व्यक्ति-मन को मानसिक क्रियाओ, अथवा घटनाओ का सघात कहा जाय तो यह कठिनाई होगी कि सभी मानसिक क्रियाए सस्कृति का अधिष्ठान नही होती, इनमे से कुछ तो

सास्कृतिक रूप से अप्रासगिक ही होती है, और कुछ दूसरी सस्कृति-विरुद्ध भी होती है। तब किन मनस्क्रियाओ को सस्कृति का अधिष्ठान कहा जाय ? यदि कुछ विशिष्ट मनस्क्रियाओ को, जैसे कलाओ, दर्शन आदि रूप क्रियाओ को, सस्कृति का अधिष्ठान कहा जाय तब यह देखना होगा कि इनमे सस्कृति का अधिष्ठान होने का क्या अर्थ है और किस रूप मे ये अधिष्ठान होती है। उदाहरणत दार्शनिक मनस्क्रियाओ को ले—ये सस्कृति का अधिष्ठान इसी रूप मे कही जा सकती है कि ये एक ऐसा सस्थान बनाती है जो व्यक्ति-मन रूप सस्थान का अतिक्रमण करता है, अथवा उससे भिन्न है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि मनस्क्रियाए दो प्रकार के सस्थान बनाती है—सस्कृति रूप और व्यक्ति रूप[२]। उदाहरणत एक विशेष सस्थान-निर्माण के रूप मे हम कुछ दार्शनिक मनस्क्रियाओ को "शकर का दर्शन" कहते है और एक दूसरे सस्थान-निर्माण के रूप मे हम उन्ही तथा अन्य मनस्क्रियाओ को "भारतीय दर्शन" कहते है। यह और भी स्पष्ट रूप से सामूहिक लोक-नृत्य मे अथवा सगीत-शैली मे देखा जा सकता है—आप ओकारनाथ के गायन से सहगल का गायन अधिक पसन्द कर सकते हैं और इसी प्रकार पश्चिमी सगीत से भारतीय सगीत को अधिक पसद कर सकते है। किन्तु तब सस्कृति का अधिष्ठान व्यक्ति-मन नहीं होकर स्वय सस्कृति-मन हुआ, क्योकि व्यक्तिमन मनस्क्रिया-सस्थान मात्र है और यह सस्थान उस सस्थान से भिन्न है जो मनस्क्रियाओ का सयोजन सस्कृति के रूप मे करता है। किन्तु कठिनाई यह है कि ये सस्थान अधिष्ठान नही हो सकते, क्योकि स्वय इनको अधिष्ठानो की आवश्यकता है, अधिष्ठान पाकर ही ये व्यक्तित्व का स्तर पा सकते है, नही तो वे बिखरी हुई वस्तुए अथवा घटनाए है, क्योकि सस्थान हम अन्यथा स्वतत्र वस्तुओ अथवा घटनाओ पर, देखने वाले की अपेक्षा से, दैशिक अथवा कालिक व्यवस्था के

---

२ प्रो गोविन्दचन्द्र पाडे सस्कृति को जब बौद्ध पदावली मे परिभाषित करते हुए कहते है कि "सास्कृतिक चेतना एक निरात्मक और प्रतीत्यसमुत्पन्न सस्कार प्रवाह है जोकि वैयक्तिक न होकर लोक-साधारण है", तब उनका कुछ ऐसा ही अभिप्राय है। (प सुरतिनारायण त्रिपाठी अभिनन्दन ग्रथ मे उनका लेख "सस्कृति और भारतीयता" पृ २)। (प सुरतिनारायणमणि त्रिपाठी अभिनदन समिति, वाराणसी)

भारत से कुछ लोग गये होंगे, अथवा उस प्रदेश के कुछ लोग भारत रह कर लौटे होंगे. अर्थात् हम दो पूर्णत विच्छिन्न प्रदेशो मे उस प्रकार से एक सस्कृति का अस्तित्व स्वीकार नही कर सकते जिस प्रकार से दो पूर्णत विच्छिन्न शरीरो मे एक व्यक्तित्व का अस्तित्व स्वीकार कर सकते है। इस प्रकार, वास्तव मे "व्यक्तित्व" की अवधारणा मे आदर्श मानव-व्यक्तित्व के भौतिक अधिष्ठान के सम्बन्ध मे उतनी भी निश्चितता नही है जितनी सस्कृति के भौतिक अधिष्ठान के सम्बन्ध मे है। किन्तु उपर्युक्त विमर्श से यह स्पष्ट है कि शरीर और भौगोलिक क्षेत्र को क्रमश मानव-व्यक्तित्व और सस्कृतिक-व्यक्तित्व के अधिष्ठान कहना उपयुक्त नही है।

यह निष्कर्ष अत्यन्त महत्वपूर्ण है, क्योकि ऐन्द्रिय-प्रत्यक्षवादी तथा ऐकिकवादी-नाममात्रवादी (पॉजिटिविस्ट, सिंगुलरिस्ट नॉमिनलिस्ट) दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक तथा समाजशास्त्री "सस्कृति" अथवा "सामाजिक अतिव्यक्तित्व" का कोई अर्थ नही देखते, वे सस्कृति को व्यक्तियो के व्यवहार-प्रवृत्तियो आदि के सघातमात्र के रूप मे ही देखते है। इसका मुख्य कारण यही है कि जबकि वे व्यक्ति के व्यक्तित्व को एक भौतिक शरीर के रूप मे देख सकते है सस्कृति को इस प्रकार एक भौतिक शरीर के रूप मे नही देख सकते। ऐसी अवस्था मे वे निर्मित वस्तुओ तथा सामाजिक, राजनैतिक, सास्कृतिक सस्थाओ आदि को ही अधिष्ठान के रूप मे कल्पित करते है। किन्तु वास्तव मे इनको अधिष्ठान मानने की कठिनाइया भी कम नही है। सबसे बडी कठिनाई तो यही है ये सब सूत्रित होने की अपेक्षा रखते है, ये तब तक अधिक से अधिक एक सघात-मात्र है जबतक कि एक सयोजक तत्व उन्हें नही मिलता।

वास्तव मे भौगोलिक क्षेत्र के बाद सस्कृति के अधिष्ठान के रूप में कल्पना को जो सब से सहज रूप मे उपलब्ध होता है वह है सास्कृतिक समाज के सदस्य व्यक्तियो के मन। यह स्वाभाविक है, क्योकि यदि सस्कृति सामाजिक व्यक्तित्व है तो उसका अधिष्ठान मानव-मन के सिवाय (अथवा शरीर के सिवाय, जिसके सम्बन्ध मे हम ऊपर विचार कर आए है) और क्या हो सकता है ? किन्तु इसमे भी कुछ दुर्लंघ्य कठिनाइया है। सब से बडी कठिनाई तो मन को परिभाषित करने की है। यदि व्यक्ति-मन को मानसिक क्रियाओ, अथवा घटनाओ का सघात कहा जाय तो यह कठिनाई होगी कि सभी मानसिक क्रियाए सस्कृति का अधिष्ठान नही होती, इनमे से कुछ तो

मास्कृतिक रूप से अप्रासगिक ही होती हैं, और कुछ दूसरी सस्कृति-विरुद्ध भी होती है। तब किन मनस्क्रियाओ को सस्कृति का अधिष्ठान कहा जाय ? यदि कुछ विशिष्ट मनस्क्रियाओ को, जैसे कलाओ, दर्शन आदि रूप क्रियाओ को, सस्कृति का अविष्ठान कहा जाय तब यह देखना होगा कि इनमे सस्कृति का अधिष्ठान होने का क्या अर्थ है और किस रूप मे ये अधिष्ठान होती है। उदाहरणत दार्शनिक मनस्क्रियाओ को लें—ये सस्कृति का अधिष्ठान इसी रूप मे कही जा सकती है कि ये एक ऐसा सस्थान बनाती है जो व्यक्ति-मन रूप सस्थान का अतिक्रमण करता है, अथवा उससे भिन्न है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि मनस्क्रियाए दो प्रकार के सस्थान बनाती हैं—सस्कृति रूप और व्यक्ति रूप[२]। उदाहरणत एक विशेष सस्थान-निर्माण के रूप मे हम कुछ दार्शनिक मनस्क्रियाओ को "शकर का दर्शन" कहते हैं और एक दूसरे सस्थान-निर्माण के रूप मे हम उन्हीं तथा अन्य मनस्क्रियाओ को "भारतीय दर्शन" कहते है। यह और भी स्पष्ट रूप से सामूहिक लोक-नृत्य मे अथवा सगीत-शैली मे देखा जा सकता है—आप ओकारनाथ के गायन से सहगल का गायन अधिक पसन्द कर सकते है और इसी प्रकार पश्चिमी सगीत से भारतीय सगीत को अधिक पसद कर सकते है। किन्तु तब सस्कृति का अधिष्ठान व्यक्ति-मन नहीं होकर स्वय सस्कृति-मन हुआ, क्योकि व्यक्तिमन मनस्क्रिया-सस्थान मात्र है और यह सस्थान उस सस्थान से भिन्न है जो मनस्क्रियाओ का सयोजन सस्कृति के रूप मे करता है। किन्तु कठिनाई यह है कि ये सस्थान अधिष्ठान नही हो सकते, क्योकि स्वय इनको अधिष्ठानो की आवश्यकता है, अधिष्ठान पाकर ही ये व्यक्तित्व का स्तर पा सकते है, नही तो वे बिखरी हुई वस्तुए अथवा घटनाए हैं, क्योकि सस्थान हम अन्यथा स्वतत्र वस्तुओ अथवा घटनाओ पर, देखने वाले की अपेक्षा से, दैशिक अथवा कालिक व्यवस्था के

---

२ प्रो गोविन्द्रचन्द्र पाडे सस्कृति को जब बौद्ध पदावली मे परिभाषित करते हुए कहते है कि "सास्कृतिक चेतना एक निरात्मक और प्रतीत्यसमुत्पन्न सस्कार प्रवाह है जोकि वैयक्तिक न होकर लोक-साधारण है", तब उनका कुछ ऐसा ही अभिप्राय है। (प सुरतिनारायण त्रिपाठी अभिनन्दन ग्रथ मे उनका लेख "सस्कृति और भारतीयता" पृ. २)। (प सुरतिनारायणमणि त्रिपाठी अभिनदन समिति, वाराणसी)

आरोपण को कहते हैं . सप्तर्षि और आकाश-गगा ऐसे ही सस्थान है ।

ऊपर हमने देखा कि जितनी और जो कठिनाइया सस्कृति का अधिष्ठान प्राप्त करने मे है उतनी ही और वे ही कठिनाइया मानव-व्यक्तित्व का अधिष्ठान प्राप्त करने मे भी है । किन्तु यह द्रष्टव्य है कि अधिष्ठान के इस प्रश्न पर हमने बाहरी द्रष्टा की ओर मे ही विचार किया हे, स्वय अधिष्ठाता की ओर से विचार नही किया है । वास्तव मे अधिष्ठाता की अपनी ओर से इस प्रश्न पर विचार अत्यन्त महत्वपूर्ण हे । अधिष्ठाता स्वय भी अपने को अधिकागत शारीराधिष्ठित (अथवा प्रेतावस्था मे आकाशाधिष्ठित) ही पाता हे । बाह्य विषयो (भौतिक वस्तुओं और व्यक्तियो) के साथ विनियोग के प्रसग मे वह अधिकाशत अपना ग्रहण शरीराधिष्ठित रूप मे ही करता है, क्योकि ये विषय दैशिक गुण-युक्त होते है और अधिष्ठाता के शरीर की सापेक्षता मे स्थित होते हैं । उदाहरणत पुस्तक उठाते हुए, लिखते हुए, किसी के घर जाने का विचार करते हुए अथवा जाते हुए, किसी से बात करते हुए आदि अवस्थाओ मे वह अधिकागत शरीराधिष्ठत ही होता है । किन्तु किसी वैचारिक समस्या मे उलझे होने पर, साहित्य या सगीत का रसास्वाद करने हुए, अपमान से अवसन्न अथवा सम्मान से आह्लादित अवस्था मे वह शरीराधिष्ठित नही होता, उन अवस्थाओ मे वह उन-उन वृत्तियो मे अधिष्ठित होता है ।

किन्तु क्या शरीर अथवा अन्य वृत्तियो मे इस अधिष्ठान को व्यक्तित्व की अधिस्थिति कहा जा सकता है ? यदि वृत्ति-अधिष्ठान का यह अर्थ लिया जाय कि अधिष्ठाता तत्तद्-वृत्तिमय ही हो जाता हे, तब अधिष्ठाता की अपनी ओर से व्यक्तित्व का कोई अर्थ ही नही रहेगा, 'अधिष्ठाता' शब्द का भी कोई अर्थ नही होगा, जसे 'आकाश-गगा' का उसकी अपनी ओर से कोई अस्तित्व नही है, केवल बाह्य द्रष्टा की सापेक्षता मे ही उसका अस्तित्व है । पश्चिम के अनुभववादी-प्रत्यक्षवादी दार्शनिको का विचार ऐसा ही है—कि 'व्यक्तित्व' आदि शब्द रिक्त शब्द है, उनका निर्देश्य कुछ नही है । किन्तु यदि वृत्ति-अधिष्ठान का यह अर्थ लिया जाय कि अधिष्ठाता अपने सारूप्य (आइडेंटिटी) के साथ वृत्तियो मे स्थित होता है तब वृत्ति मे स्थिति का कुछ अर्थ नही रह जाता, क्योकि वृत्ति मे स्थिति मेज पर पुस्तक की स्थिति के अनुरूप अवधारणा नही है । वृत्ति मे (शरीर-वृत्ति मे अथवा अन्य वृत्तियो मे)

स्थिति का अर्थ केवल एक ही है—तद्रूपता, अथवा अधिक ठीक शब्दो मे, तद्वृत्तिकता। इस प्रकार, यदि अधिष्ठाता के उसकी अपनी ओर मे व्यक्तित्व का कोई अर्थ है तो उसका अधिष्ठान किसी वृत्ति अथवा वृत्तियो मे नही हो सकता। वास्तव मे, इसके विपरीत, उस अवस्था मे अधिष्ठाता विभिन्न वृत्तियो को अपने मे स्थित देखेगा। जो दार्शनिक अधिष्ठाता को केवल वृत्ति-संस्थान मानते है उनका यही अभिप्राय होता है कि 'अधिष्ठाता' शब्द एक ऋक्त-निर्देशात्मक शब्द है, इनका कोई वाच्य नही है। उनके अनुसार विभिन्न वृत्तियो मे एक-शृंखलता अवश्य है, किन्तु वह वास्तव नहीं है, केवल प्रतीयमान है। किन्तु इस प्रतिपादन मे एक स्पष्ट दोष है, वह यह कि यह कैसे निर्णय किया जाय कि जो प्रतीयमान है वह वास्तव नही है? व्यक्ति मे एक स्वगत एकत्व का अनुभव तो रहता ही है, यही स्मृति, प्रत्यक्ष, प्रमाण आदि का आधार है, इसके बिना कोई वृत्ति स्मृतिरूप नही हो सकती और न ही प्रमाण, प्रमेय आदि अवस्थाए हो सकती है। कि यह शृंखलता अवास्तविक है, यह कैसे सिद्ध होगा?

किन्तु यदि अधिष्ठातृत्वानुभव को वास्तव माना जाय तब कठिनाई यह है कि वृत्तियो के ऊपर अधिष्ठाता व्यक्ति का क्या स्वरूप है? यह प्रश्न निर्वृत्ति-चैतन्य की कल्पना को जन्म देता है। किन्तु निर्वृत्ति-चैतन्य न केवल एकत्व-विधान करने मे ही असमर्थ है बल्कि स्वय उसका अस्तित्व भी केवल तार्किक कोटि का ही रह जाता है[3]। क्योकि न तो वृत्तिया निर्वृत्तिक मे स्थित हो सकती है और न एकत्व-विधान ही निर्वृत्तिकता है। उदाहरणत· एक स्मृत घटना को ले, कि यह क की स्मृति है, इसका अर्थ है कि एक विशिष्ट विषय इस सहगामी अनुभव के साथ प्रस्तुत है कि "यह घटना मेरे साथ इस सन्दर्भ मे घटित हुई थी," अर्थात्, मै घटना और काल तथा देश को अपनी वृत्तियो की अन्तर्वस्तुओ (कांटेंट्स) के रूप मे देखता हू। इस वृत्ति को हम अनुभूत एकत्वरूप वृत्ति कह सकते है जो अन्य सब वृत्तियो का अपने मे समावेश करती है। स्वय व्यक्ति के लिए अपने व्यक्तित्व का अधिष्ठान इस अनुभूत एकत्व मे ही है जिसे हम ज्ञातृत्वाभिमान (मै ज्ञाता हू, यह बोध) कह सकते हैं। इसका केन्द्र देश मे नहीं है, काल मे भी नहीं है, यह देश-कालातीत

---

३ द्रष्टव्य यशदेव शल्य ज्ञान और सत्, पृ २५, १०२–४, १२२–२३।

है, क्योकि देश और काल स्वय इसकी वृत्तिया होकर ही उपलब्ध हो सकते हैं। ये इसकी सधारक वृत्ति नहीं हो सकते । तव क्या सास्कृतिक व्यक्तित्व (अथवा कहे, अतिव्यक्तित्व) के अधिष्ठान के सम्बन्ध मे भी यह कहा जा सकता है कि देश-काल मे इसके अधिष्ठान की समस्या केवल वाहरी द्रष्टा के लिये है, स्वय सास्कृतिक अतिव्यक्ति के लिये इसका अधिष्ठान देश-कालातीत अनुभव मे है ?

किन्तु इस पर प्रत्यक्षवादी-वैज्ञानिकतावादी (पॉजिटिविस्ट) आपत्ति करेगा कि हमने सामाजिक व्यक्तित्व का अस्तित्व तो पहले स्वीकार कर लिया और तव उसके अधिष्ठान की वात सिद्ध करने चले। उसकी दृष्टि से हमारी स्थिति मे दूसरी गलती व्यक्तित्व को भौतिक अधिष्ठान से स्वतन्त्र मानकर चलने मे है। प्रत्यक्षवादी के अनुसार, व्यक्तित्व का एकत्व केवल भौतिक अधिष्ठान का एकत्व ही है तथा किसी पृथक् व्यक्तित्व की एकता का कुछ अर्थ ही नही है। उसके अनुसार, किसी शरीर से सम्बद्ध व्यवहारो और व्यवहार-सभावनाओ (टेंडेंसीज, डिस्पोजीशस) को, उनका शरीराधिष्ठान एक होने के कारण, हम किसी एक स्रोत से आने वाली समझ लेते हैं और उनसे ऊपर एक अस्तित्व की कल्पना कर लेते हैं। किन्तु यह केवल 'मशीन मे भूत' की जैसी कल्पना है[४]। 'व्यक्तित्व' शब्द किसी वास्तव अस्तित्व का वाचक नही है। 'समाज' शब्द पर यह वात और भी अधिक लागू होती है : विभिन्न शरीरो मे न्यस्त विभिन्न व्यवहारो और व्यवहार-सभावनाओ (डिस्पोजीशस) की प्रादेशिक एकत्व के आधार पर निर्मित समष्टि को हम समाज कह देते है। ये प्रत्यक्षवादी समाजवैज्ञानिक सस्कृति जैसी किसी चीज को स्वीकार नही करेंगे। पिछले अध्याय मे हमने रैडक्लिफ ब्राऊन से उद्धरण दिया था, जो सस्कृति को अमूर्त कल्पना (एब्स्ट्रैक्शन) कहता है, इसे कुछ लोग उपयोगी कल्पना (फिक्शन) भी कहते हैं। वास्तव मे इनके वरिष्ठ दार्शनिक तो एक-प्रत्यक्ष की वस्तु से अधिक सव कुछ को कल्पना कहते है, और इस प्रकार,

---

४ द्रष्टव्य गिल्वर्ट राईल, दि कासेप्ट आफ माईड। वास्तव मे, अमरीका, इगलैंड और भारत मे लगभग सभी मनोवैज्ञानिक इस धारणा को पूर्वमान्य करके चलते हैं।

उनके अनुसार, शरीर उतना ही कल्पना है जितना समाज[५], अन्तर केवल इतना ही है कि शरीर की एकता अधिक वास्तविक प्रतीत होती है जबकि समाज की एकता प्रतीतिगत भी नही है, क्योकि उसमे देश-कालगत निरन्तरता भी नही है।

किन्तु इस मत के अनुयायी समाजशास्त्री इतनी दूर तक नही जाते, वे अपने अध्ययन के लिये "समष्टि-व्यवहार" को मूल तथ्य मान कर चलते हैं, अर्थात् उनके अनुसार कुछ प्रकार के मानव-व्यवहार को सामाजिक व्यवहार कहना उपयुक्त है। यद्यपि इनके अनुसार मूल इकाई तो व्यक्ति-व्यवहार ही है किन्तु इस व्यवहार को ठीक तरह से समझने के लिए व्यक्ति को समुदाय या समाज के सदस्य के रूप मे देखना आवश्यक है। ये अपने अध्ययन की इकाई ऐसे छोटे समुदायो (ग्रुप्स) को बनाते हैं जो वैज्ञानिक प्रयोग-परीक्षा के लिए सहज उपलब्ध हो सकते हैं। इस प्रकार का समुदाय सत्तात्मक इकाई नही है, किन्तु तब भी यह ऐसा व्यवहार प्रदर्शित करता है जो इसके सदस्यो के व्यक्तिश व्यवहार से भिन्न है, और इसका इसी रूप मे अध्ययन सुविधा-जनक है। इस प्रकार से यहा विशिष्टतावादी और नाममात्रवादी (सिंगुलरिस्टिक-नॉमिनलिस्टिक) आग्रह दार्शनिक अर्थ मे छोड दिया गया और वैज्ञानिक परीक्षा का आग्रह प्रमुख हो गया। वैज्ञानिक परीक्षा के लिए दो बातें आवश्यक हैं, पहली, वस्तु-स्थिति (फिनोमिना) का निर्धारण, और दूसरी, परीक्षा की सुविधा के अनुसार मूल ऐकिको का निर्धारण जिनमे उस वस्तुस्थिति को विश्लिष्ट किया जा सके और फिर ऐकिको को प्रेक्षण-परीक्षा विधि से समझ कर इनके व्यवहार के सम्बन्ध मे और सम्पूर्ण के व्यवहार के सम्बन्ध मे भविष्यवाणी की जा सके। अब भूतविज्ञान मे, जोकि वैज्ञानिक विधि का आदर्श है, एक ओर परमाणु विज्ञान है और दूसरी ओर बृहत्पिड विज्ञान। वस्तुस्थितियो के निर्धारण का यह द्वैत प्रयोगात्मक सुविधा के आधार पर स्वीकार किया गया है। इसी प्रकार से मानवीय वस्तुस्थिति को भी समझा जा सकता है इसमे एक ओर वैयक्तिक वस्तुस्थिति है और दूसरी ओर सामाजिक वस्तुस्थिति। ये दो वस्तुस्थितिया वास्तव मे पृथक् नही हैं, ये केवल

---

५ द्रष्टव्य यशदेव शल्य—दार्शनिक विश्लेषण, अ २ और ३, अखिल भारतीय दर्शन परिषद्।

परीक्षण की सुविधा के लिए पृथक् है। आईस्टाईन ने भूतविज्ञान मे दोनो वस्तुस्थितियो का एक समग्र सिद्धान्त स्थापित करने का प्रयत्न किया था, इसी प्रकार से मानवीय वस्तु-स्थिति मे भी हो सकता है। वास्तव मे यहा यह उससे कही अधिक सरल है। किन्तु इससे भी मुख्य बात तो यह है कि अन्तत. सब विज्ञान एक समग्र विज्ञान मे अन्तर्भाव्य (रिड्यूसीबल) है जिनका मूल भूतविज्ञान है। ओट्टो न्यूराथ के अनुसार, "जिस प्रकार जीवो के व्यवहार का अध्ययन उतना ही सम्यक् रूप मे किया जा सकता है जितना यन्त्रो, तारो और पत्थरो का, उसी प्रकार प्राणी-समुदायो का अध्ययन भी सम्भव है। व्यक्तियो मे बाह्य उद्दीपनो से उत्पादित परिवर्तनो और उसके भीतर 'स्वतन्त्र' परिवर्तनो दोनो को परीक्षान्तर्गत लिया जा सकता है, जिस प्रकार से कि कोई रेडियम के विघटन का, जिसका कोई बाह्य कारण नही होता, अध्ययन कर सकता है, तथा ऑक्सीजन मिलाकर एक यौगिक रासायनिक द्रव्य से उत्पादित विघटन का अध्ययन भी कर सकता है। समाज-विज्ञान एक प्राणी मे, अथवा मानव-समुदायो मे भी, विशुद्ध रूप से सांख्यिकीय परिवर्तनो (स्टेटिस्टिकल वेरियेशस) का ही अध्ययन नही करता है, यह विशिष्ट व्यक्तियो के बीच घटित होने वाले उद्दीपनो के सम्बन्धो का भी अध्ययन करता है। परमाणविक सरचनाओ (स्ट्रक्चर्स) को देखे बिना भी व्यापक सामाजिकीय सिद्धान्तो तथा लघु सामाजिकीय क्षेत्रो सम्बन्धी सिद्धान्तो को खोज सकना पूर्णत सभव है, और इस प्रकार इन सामाजिकीय सिद्धान्तो को भौतिक वैज्ञानिक सिद्धान्तो पर स्थापित किया जा सकता है।"[६]

इस उद्धरण मे यद्यपि "व्यापक सामाजिकीय सिद्धान्तो" की सभावना स्वीकार की गयी है किन्तु यह स्पष्ट नही है कि ये सिद्धान्त पूरे समाज को अपना विषय बनाएगे याकि "लघु सामाजिकीय क्षेत्रो" को। वीयेना सम्प्रदाय की सम्पूर्ण विचार-विधि को और इसके पीछे हुए विकास को देखते हुए यही कहा जा सकता है कि इनके अध्ययन के मूल विषय परीक्षोपयोगी लघु सामाजिकीय क्षेत्र ही हो सकते हैं। यह "लघु सामाजिकीय क्षेत्र" क्या है ? इस क्षेत्र को ये लोग, भौतिक विज्ञान की भावना के अनुरूप, "सामाजिक परमाणु"

---

६ ओट्टो न्यूराथ सोश्योलोजी एण्ड फिजिकलिज्म, १९३१, ए जे एयर द्वारा सम्पादित लोजीकल पोजिटिविज्म मे सकलित।

कहते है । जे एल मोरेनो सामाजिक परमाणु को परिभाषा इस प्रकार देते है

"सामाजिकीय परमाणु (सोसीटल एटम) उन सब व्यक्तियो का एक केन्द्रक है जिनसे कि एक व्यक्ति आवेगात्मक रूप मे सम्बद्ध है, अथवा जो उस व्यक्ति से एकसाथ आवगात्मक रूप मे सम्बद्ध है, (आवेगात्मक सम्बद्धता का अर्थ है आकर्षण अथवा विकर्षण) । यह सामाजिक विश्व मे आवेगात्मक आधार पर निर्मित अन्तर्वैयक्तिक सस्थान का छोटे से छोटा केन्द्रक होता है । ये सामाजिकीय परमाणु आकर्षण अथवा विकर्षण के केन्द्र होते है । 'छोटे से छोटा सामाजिक ऐकिक यह सामाजिक परमाणु ही होता है, व्यक्ति नही ।"[७]

जैसाकि सहज मे ही देखा जा सकता है, सामाजिकीय परमाणु की यह परिभाषा अनेक प्रकार से दोषपूर्ण है । इसका पहला दोष तो सामाजिकीय वर्ग और भूतविज्ञान के परमाणु मे उस मौलिक साम्य का अभाव होने मे है जोकि उपमा का आधार हो सकता है । समाज केवल आवेगात्मक पर्यावरण अथवा समष्टि नही है, वैज्ञानिक, दार्शनिक, धार्मिक, उपयोगात्मक आदि आदि अनेक प्रकार के अर्थ-व्यवहार-वस्तुए इसके पर्यावरण को फलित करती हैं । इसलिए सब प्रकार के परमाणु होने आवश्यक है । किन्तु इनके आधार पर बने परमाणु उतने ही, अथवा उससे भी अधिक, जटिल और बृहत्तर हो सकते है जितना कि स्वय समाज है । दूसरा दोष यह है कि स्वय आवेगात्मक सम्बन्ध के आधार पर बने परमाणु भी एक पूरे समाज से भी बडे हो सकते है । उदाहरणत हिटलर से आकर्षण-विकर्षणात्मक आवेगो से सम्बद्ध वर्ग न केवल जर्मन समाज से ही बृहत्तर था बल्कि यूरोपीय समाज से भी बृहत्तर था, यह वर्ग वास्तव मे सम्पूर्ण विश्व के असख्य मानव-व्यक्तियो से निर्मित था ।

इस प्रकार मोरेनो की परिभाषा का दोष स्पष्ट है । किन्तु वास्तव मे उसका दोष इससे गम्भीरतर है, यह दोष मानव-मन को उद्दीपन-प्रतिक्रियाओ के सघात के रूप मे देखने मे निहित है । यदि मानव-मन उद्दीपन-प्रतिक्रिया-सघात और मस्तिष्क के परमाणुओ का क्रिया-प्रतिक्रिया सस्थान मात्र है तब 'सस्कृति' शब्द का कोई अर्थ नही है और समाज केवल एक कल्पना ही हो सकता है, तब सामाजिकीय वर्ग केवल उन व्यक्तियो का सघात ही हो सकता है जो भौतिक रूप से उद्दीपक-उद्दीप्त सम्बन्ध से सम्बद्ध है, जयपुर के एक व्यक्ति का

---

७ मोरेनो-साईकोड्रामा (न्यूयार्क, १९४६) जिल्द १, पृ० १८४ ।

पुस्तकों, समाचार-पत्रों आदि द्वारा जो विश्व-मानव से सम्बन्ध है वह सम्बन्ध वास्तव मे कागज पर छपी विशेष प्रकार की काली आकृतियो का और उनसे उद्दीप्त मस्तिष्क नामक परमाणु-सघात का भौतिक सम्बन्ध मात्र है। इस मनो-सामाजिक वस्तुस्थिति को सिबर्नेटिक्स के निदर्श पर समझा जाता है। (सिबर्नेटिक्स का अर्थ है "प्राणी तथा मशीन मे नियन्त्रण तथा सचार-यन्त्र"।) इस सिद्धान्त के पीछे डेकार्ट से आरम्भ होकर लॉक-ह्यूम-हॉब्स के क्रम से आती हुई दीर्घ परम्परा है जो आधुनिक आग्ल-अमरीकी, विशेषत अमरीकी, प्रयोगात्मक यन्त्र-मानवीय मनोविज्ञान (रोबोट साईकोलोजी) मे प्रतिफलित हुई है।

वास्तव मे पशु भी कहा तक मात्र एक मशीन है, यह विवाद का विषय है। इस सम्बन्ध मे प्राणी-मनोवैज्ञानिको मे पर्याप्त मत-भेद हैं। कोह्लर ने बन्दरो के अध्ययन मे बन्दरो मे सृजनात्मक मानसिकता के लक्षण होने के अनेक प्रमाण पाये हैं।[८] किन्तु बन्दरो से निम्नतर श्रेणी के प्राणियो मे भी प्रवृत्ति, उदासीनता, ऊब आदि के अभौतिकीय (भूतविज्ञान की सीमा मे नही आने वाले) लक्षण देखे जाते है। इन लक्षणो का भौतिकीय लक्षणो मे अन्तर्भाव (रिडक्शन) करने के भरसक प्रयत्न किए जा रहे हैं। इसका सबसे सरल रास्ता है मस्तिष्क की परमाणु-क्रिया मे सब प्रकार की मनोव्यवस्था का अन्तर्भाव करना। किन्तु मनुष्य मे हम अर्थ, मूल्य, कल्पना, अमूर्तीकरण, साधारणीकरण आदि के जो अनेकानेक लक्षण पाते हैं उनका अन्तर्भाव भौतिकीयता (भूतवैज्ञानिक वस्तुस्थितियो) मे नही किया जा सकता। वास्तव मे स्वय भौतिक विज्ञान मे भी अनेक वस्तुस्थितियो का अन्तर्भाव सम्यक्-रूप से भौतिकीय व्यवस्था (फिजिकलिस्टिक थीयरी) मे नही हो सकता है[९], तब अर्थ, मूल्य आदि पूर्णत भिन्न कोटि की वस्तुस्थितियो का अन्तर्भाव कर सकने का

---

८ कोह्लर–दि मेंटलिटी आफ एप्स, पेलिकन बुक्स, तथा ई एस रसल, दि बिहेव्यर आफ एनीमल्स, एडवर्ड आर्नल्ड एण्ड कम्पनी, लण्डन, १९३४

९ इसके लिए द्रष्टव्य रूडोल्फ कार्नप-टेस्टेबिलिटी एण्ड मीनिंग, फिलोसोफी आफ साइन्स, जिल्द ३, १९३६ तथा जिल्द ४, १९३७, तथा उसी का एक और लेख "मैथेडोलोजीकल कैरेक्टर आफ थ्योरेटीकल कासेप्ट्स", मिन्नेसोटा स्टडीज इन फिलोसोफी आफ साईस, जिल्द १, स फाईग्ल तथा स्क्रीवान।

तो प्रश्न ही नही उठता। इसका एक मात्र उपाय है इस कोटि के होने का ही अस्वीकार करना, और यही ये लोग करते है[10]।

× × ×

हमने ऊपर सक्षेप मे सस्कृति को ऐकिकवादी-विशिष्टतावादी तत्वो मे अन्तर्भूत करने के प्रयत्नो का दोष-निरूपण किया। इस आलोचना मे निहित रूप से यह धारणा रही कि समाज केवल यन्त्र-मानवो (रोबोट मेन) का सघात नही है और न सस्कृति उद्दीपनो का एक समवाय-सम्बन्ध ही है। इस अध्याय के आरम्भ मे हमने मानव-व्यक्तित्व और सामाजिक व्यक्तित्व की तुलना की और देखा कि इनके अधिष्ठान क्रमश मानव-शरीर और भौगोलिक क्षेत्र (अथवा वस्तुए, अथवा मानव-शरीर या मानव-मन भी) मानने मे क्या कठिनाइया हैं, और अन्त मे हमने इस तथ्य की ओर सकेत किया कि अधिष्ठान की समस्या केवल बाहरी द्रष्टा के लिए है, स्वय अधिष्ठाता के लिए इसकी समस्या नही है। इस पर शायद आपत्ति की जाय कि हम बिना बात के तत्वमीमासा की दलदल मे फस रहे है। किन्तु जैसाकि हम देख चुके हैं, प्रत्यक्षवाद वास्तव मे वैज्ञानिक मतान्धता से ग्रस्त है, यह अनुभव को ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष तक सीमित रखता है और उसके लिए कला, धर्म और मूल्यो का सर्जक और उपभोक्ता मानव केवल उद्दीपनो-प्रतिक्रियाओ का असबद्ध पुजमात्र है। यदि हम इन अनुभवो के अर्थ को एक ओर, और समग्र सास्कृतिक वस्तुस्थिति को दूसरी ओर, इनके अविकल रूप मे समझना चाहते है तब हमे ऐसी तत्वमीमासा मे प्रवेश करना ही होगा। सम्भवत मानव-व्यक्ति के व्यक्तित्व के सम्बन्ध मे हमारी बात उतनी विचित्र नही लगेगी किन्तु सास्कृतिक व्यक्तित्व के सम्बन्ध मे यह बहुत विचित्र प्रतीत होगी। किन्तु

---

१० विशेषत द्रष्टव्य राईल–दि कासेप्ट आफ माइण्ड, बर्ट्रेंड रसल–दि एनेलेसिस ऑफ माइण्ड फाईग्ल–दि मेटल एड दि फिजीकल (मिन्नेसोटा स्टडीज इन फिलासफी आफ साईस की जिल्द २ मे) तथा आर एफ बील्स–ए सेट ऑफ केटेगरीज फार दि एनेलेसिस ऑफ स्माल ग्रुप इटरेक्शन, अमरीकन सोश्योलोजकील रिव्यू, १९५०। कार्नप आदि फिजीकलिस्टो और स्टीवेन्सन आदि अन्य दार्शनिको की कृतिया भी द्रष्टव्य।

आगे हम स्पेंग्लर-टॉयन्बी आदि के विचारो के विश्लेषण के प्रसग मे देखेंगे कि हमारी यह कल्पना ही वास्तव मे उनकी विचार-व्यवस्था को अर्थ दे सकती है।

यहा हम अभी वाह्य द्रष्टा की ओर से ही सस्कृति पर विचार करेंगे हम विभिन्न मनुष्यो को देखते है, उनके आचार-व्यवहार, भाषा, धर्म, कला, हाट-मकान, सडक-वाजार आदि को देखते है, ये सब अपनेआप मे पृथक् सत्ताए है। केवल दृश्य रूप मे ये विखरी हुई और स्थिर आकृतिया है। "विखरी हुई" इसलिए क्योकि एक हाट का दूसरी से कोई सम्बन्ध नही है, सिवाय देशगत समीपता के, इसी प्रकार सडक और हाट का परस्पर कोई सम्बन्ध नही है। "स्थिर" इसलिए क्योकि गति और घटनाए भी अपनेआप मे पृथक्-पृथक् है, सिनेमा की रील मे जुडी हुई फिल्मो के समान इनकी व्यवस्था है। द्रष्टा के मन को उसकी इन्द्रियो के पीछे से और हटा दिया जाय तो हाट एक खोखली आकृति मात्र है जिसमे इधर-उधर विभिन्न रगो और आकृतियो वाली वस्तुए पडी है, सडक एक विशेष रग की एक दीर्घ आकृति है, मनुष्यो का आचार-व्यवहार अ ग-सचालन मात्र है। वास्तव मे काल का अ श निकाल दिया जाय तो, जैसाकि विज्ञान मे किया जाता है, अ ग-सचालन का भी कोई अर्थ नही है, यह अ गो का स्थान-परिवर्तन मात्र है। अब इन्द्रियो के पीछे मन आने दीजिये, अर्थात् द्रष्टा को इन्द्रिय-मन सयुक्त कर दीजिये, तो स्थिति मे एक गम्भीर परिवर्तन हो जायगा अ ग-सचालन मे गतितत्व का प्रवेश हो जायगा, दुकानो और सडको मे अर्थ का प्रवेश हो जायगा, अर्थात् ये आकृतिया मात्र नही रह कर अर्थ-युक्त वस्तुए हो जायगी, इनमे एक व्यवस्था आ जायगी और परस्पर सम्बन्ध जुड जायगा। किन्तु कितना अर्थ और कितना सम्बन्ध इनमे जुडेगा? कुछ आकृतिया खाने की वस्तुए हो जायगी, कुछ आकृतिया पहनने की वस्तुए हो जायगी, कुछ आकृतिया पका कर खाने की वस्तुए हो जायगी, कुछ आकृतिया चलने की साधनभूत हो जायगी और कुछ आकृतिया उपयोगी वस्तुओ की व्यवस्था से सज्जित हो जायगी। किन्तु 'सडक', 'दुकान', 'वाजार', 'वस्त्र' आदि मे इससे बहुत अधिक गहरे अर्थ का प्रवेश है, यह अर्थ केवल देखने वाले के मन की ओर से आरोपित अर्थ नही है, यह स्वय इन वस्तुओ-व्यवहारो के स्वरूप मे प्रविष्ट अर्थ है—ये स्वय मानस-वस्तुए हैं, ये देखने वाले से स्वतन्त्र रूप से अर्थ-युक्त हैं। पत्थर मकान बनाने की वस्तु, उठाकर मारने की वस्तु आदि द्रष्टा के

प्रयोजन की सापेक्षता मे है, किन्तु मेज केवल देखने वाले के प्रयोजन की सापेक्षता मे "मेज" नहीं है, इसकी आकृति मे "मेजपन" का, कहे मेज-तत्व का, जोकि विशुद्ध अर्थ है, प्रवेश है। इस अन्तर की ओर प्राय ध्यान नही दिया गया है, किन्तु यह एक अत्यन्त महत्वपूर्ण अन्तर है। इस अन्तर की स्वीकृति वैज्ञानिकतावाद-प्रत्यक्षवाद को जड से काट देती है। मेज एक सृष्ट वस्तु है, अनगढ लकडी मे मन ने उसी प्रकार प्रवेश कर उसे रूपान्तरित कर दिया है जिस प्रकार दीमक मिट्टी मे प्रवेश कर उसे रूपातरित कर देते है। सर्जन (बनाने) और दर्शन (देखने) मे एक मौलिक अन्तर है, सर्जन मन की पदार्थ पर क्रिया है, जबकि दर्शन पदार्थ द्वारा मन का उद्दीपन है।[११] 'सर्जन शब्द का प्रयोग यहा व्यापक अर्थ मे किया जा रहा है लकडी से मेज बनाना सर्जन है, उतना ही पत्थर पर फूल चढा कर उसका शिव के प्रतीक रूप मे ग्रहण सर्जन है। अब यहा कहा जा सकता है कि, केवल वे ही वस्तुए सास्कृतिक उपकरण हैं जो अर्थ-सृष्ट (अर्थ से निर्मित) हैं। सडक पर पडा पत्थर सास्कृतिक उपकरण नही है, पुष्पो से मण्डित पत्थर सास्कृतिक उपकरण है, स्वय मे व्यक्ति सास्कृतिक उपकरण नही है किन्तु भाई, पिता, पुत्र, राजा, भृत्य रूप व्यक्ति सास्कृतिक उपकरण है।

यहा हम अर्थ-सृष्ट वस्तु से सास्कृतिक उपकरण पर कुछ सहसा रूप से पहुच गये है। सास्कृतिक उपकरण अर्थ-सृष्ट वस्तु से कुछ अधिक है, यद्यपि केवल अर्थ-सृष्ट वस्तु ही सास्कृतिक उपकरण हो सकती है। यह "कुछ अधिक" क्या है जो अर्थ-सृष्ट वस्तु के सास्कृतिक उपकरण होने के लिए आवश्यक है? रेडक्लिफ ब्राऊन इस सास्कृतिक उपकरण को इस प्रकार परिभाषित करते हैं—"एक विशेष सामाजिक प्रथा का प्रकार्य (फक्शन) वह है जो यह (प्रथा) समग्र सामाजिक व्यवस्था के प्रकार्य-सस्थान मे योगदान करती है। इस प्रकार के दृष्टिकोण से यह लागू होता है कि एक सामाजिक व्यवस्था मे एक विशेष प्रकार का एकत्व होता है, जिसे हम प्रकार्यात्मक एकत्व कह सकते है। हम इसे एक ऐसी अवस्था कह सकते है जिसमे एक सामाजिक व्यवस्था के सभी अग पर्याप्त सामजस्य तथा आन्तरिक सगति के

---

११ इस कथन को तात्विक अर्थ मे नही समझना चाहिए, केवल मेज आदि मे भेद के प्रसग मे ही देखना चाहिए।

साथ कार्य करते है।"[१२] यहा प्रकार्यवाद को छोडते हुए, जिसकी आलोचना हम आगे करेंगे, हम कहना चाहेगे कि समाज-मानस द्वारा अर्थ-सृष्ट वस्तुए सास्कृतिक उपकरण हैं। उदाहरणत मकान को ले, यह व्यक्ति द्वारा अर्थ-सृष्ट है, किन्तु इसमे एक विशेष शैली, एक विशेष प्रभाव, विशेष रुझान झलकता है जो अनेकानेक अन्य व्यक्तियो द्वारा उसी युग में और पूर्व के युगो मे बनाए मकानो मे भी झलकता है, यह शैली, प्रभाव और रुझान व्यक्ति के मानस का अतिक्रमण करता है, यही इसे सास्कृतिक उपकरण बनाता है। यह एकत्व प्रकार्यात्मक नही है, अनेक वस्तुए सास्कृतिक उपकरण होती है किन्तु ये प्रकार्यात्मक रूप से निबद्ध नही होती। उदाहरणत भारत की शिल्पकला-शैली को समकालीन भारतीय राजनैतिक व्यवस्था से प्रकार्यात्मक रूप से निबद्ध नही दिखाया जा सकता। प्रकार्यात्मक एकत्व की अनुपयुक्तता सबसे अधिक हम अपने व्यक्तित्व के एकत्व मे देख सकते हैं जिसमे भिन्नताए एक समग्र मे प्रकार्यात्मक रूप से सयुक्त नही होती बल्कि समग्र मे ही ये उत्पन्न होती है, ये समग्र मे ही सहभागी होती है, ये समग्र की होती है। सगीत की तान, नृत्य आदि भी इसके उत्कृष्ट उदाहरण है। आर्केस्ट्रा मे तो यह तत्व अत्यधिक मुखर रूप मे देखा जा सकता है। आर्केस्ट्रा का एकत्व केवल इस बात मे ही निहित नही है कि श्रोता पर यह एक समग्र प्रभाव डालता है, यह प्रभाव तीव्रता से घूमते हुए चक्र के अरे भी डालते है, इसका एकत्व उस रचनात्मक अनुभूति मे है जो विभिन्न ध्वनियो को अपनी लय मे जन्म देती है। यही बात एक बौद्धिक सिद्धात मे देखी जा सकती है जिसके एकत्व मे विभिन्न अवधारणाए उपजती है। क्या सस्कृति को भी ऐसा ही एक आतर एकत्व, अथवा रचनात्मक एकत्व, कहा जा सकता है? ओस्वाल्ड स्पैंग्लर इसे लगभग इसी रूप मे देखते प्रतीत होते हैं जब वे "इतिहास के रूप मे विश्व" की कल्पना एक जीवन्त भवितव्यता (लिविंग पोटेंश्यालिटी) के रूप मे करते है, जो काल-क्रम मे अपनी विलक्षण नियति (डेस्टिनी) अथवा लक्ष्य को चरितार्थित करती है और अतीत से वर्तमान मे होती हुई भविष्य की ओर प्रवाहित होती है।

---

१२ रैडक्लिफ ब्राउन—आन् दि कासेप्ट आफ फक्शन इन सोश्यल साईस, पृ ३९७

किन्तु स्पेंग्लर तथा टॉयन्बी, और इसी प्रकार के कुछ अन्य इतिहास-दार्शनिको की भूल सस्कृति को जैव शरीर के रूप मे अवधारित करने मे है, जो कि नियतिबद्ध भवितव्यता के रूप मे जितना सम्यक् प्रकार से समझा जा सकता है प्रकार्यात्मक एकत्व के रूप मे भी उतना ही सम्यक् प्रकार से समझा जा सकता है। दूसरी कठिनाई इस भवितव्यता को जन्म, कैशोर्य, यौवन, वार्धक्य के क्रम से मरणापन्न होने के रूप मे देखने मे है, जोकि शरीर का परम धर्म है। इस कल्पना मे सैद्धान्तिक दृष्टि से दो गभीर दोष हैं। पहला दोष तो यह कि नियति (चरितार्थ्यता के अर्थ मे भवितव्यता) काल-क्रम की प्रतिष्ठा कालातीत मे करने को बाध्य है। शरीर मे एक अमानसिक, अर्थ-रहित भवितव्यता चरितार्थ होती है जिसमे 'नियति," और वास्तव मे भवितव्यता और चरितार्थन भी, द्रष्टा की ओर से आरोपित होते हैं। मृत्यु को नियति मानने का यही अर्थ है। दूसरे शब्दो में, शरीर का यह क्रम हम देखते है, तब हम सिद्धान्त का निर्माण करते हैं जो इस क्रम को एक व्यवस्था देता है किन्तु जिस सिद्धान्त का आधार आगमनात्मक (इडक्टिव) है। इसको हम एक निश्चितता के रूप मे मानकर नियति कह देते है। इसके विपरीत, जैव-विकास मे भी, उसे समग्र रूप मे लेते हुए, एक भवितव्यता दृष्टिगोचर होती है, जिसको यदि हम चरितार्थ्य नियति के रूप मे अवधारित करते है तब इसमे एक अतिमानसिक चेतना का आरोपण अनिवार्य हो जाता है जिसकी भवितव्यता इस अतिमानसिक चेतना के लक्ष्य-बोध मे निहित है। यह भवितव्यता व्यक्ति-प्राणियो और जातियो के जन्म-मरण-वृद्धि-विकास के माध्यम से अपने लक्ष्य को चरितार्थित करती है। स्पेंग्लर और टॉयन्बी इन दो प्रकार की भवितव्यताओ मे भेद नही करते प्रतीत होते। ये दोनो प्रकार की भवितव्यताओ को एक मे घपला कर एक ओर सस्कृति को काल-क्रम मे देखते हैं और इसे मरणोन्मुख मानते है, और दूसरी ओर इनमे निहित-प्रयोजन भी देखते प्रतीत होते हैं। उदाहरणत स्पेंग्लर कहते है "आदिम सस्कृति के सागर मे मिश्र, बैबीलोन अथवा सुमेर की महा सस्कृतियो का सहसा उद्भव अपूर्व-कल्पित घटनाए है और कारणमूलक दृष्टिकोण से एक रहस्य हैं। इनके उद्भव किन्ही विशिष्ट भौगोलिक, वशगत अथवा अन्य कारणात्मक कारको से नही हुए, क्योकि कोई विशेष जाति अथवा नृवश किसी सस्कृति का चुनाव नही करता, बल्कि यह सहसा रूप मे उद्भूत होती हुई सस्कृति है जो यह चुनाव करती है

कि कौन सी जाति अथवा नृवश उसके आत्मचरितार्थन मे निमित्त (साधन) बनेगी । यह चुनाव वैश्व शक्तिया करती ह जो यह निर्धारित करती हैं कि प्रागैतिहासिक सस्कृतियों में से कौन सी महा सस्कृति बनेगी ।"[13] इस उद्धरण मे यह स्पष्ट देखा जा सकता है कि यह घपला किस मात्रा तक विद्यमान है । यदि जातियाँ या नृवश महा सस्कृति के निमित्त बनते हैं तब शरीर से उपमा नृवशो की होनी चाहिये और सस्कृति की उपमा जैव-तत्व मे होनी चाहिये, जो शरीरो और प्राणी-वशो को अपना निमित्त बनाता है, और तब कहना चाहिये कि ये नवश जन्म-यौवन-जरा-मृत्यु का क्रम प्रदर्शित करते है किन्तु सस्कृति नहीं करती । टॉयन्वी इस धारणा के बहुत समीप प्रतीत होते हैं जब वे "सिविलिजेशन ऑन ट्रायल" मे सभ्यताओ को धर्म के उन्नततर धरातल पर आरोहण के लिये साधन मात्र कहते ह और रूपान्तरण की कल्पना करते हुए कहते हैं कि सभवत सभ्यताओ की गति चक्रिक है जबकि, सभवत, धर्म की गति एक और अविच्छिन्नरूप से उत्कर्षात्मक है । यह गति अपने लोकोत्तर आरोहण मे सभ्यताओ के जन्म और मृत्युचक्र से पोषित होती है । किन्तु टॉयन्वी नियति के उपर्युक्त अर्थ के सम्बन्ध मे कहा तक स्पष्ट हैं, यह कहना कठिन है । दूसरा दोष इस बात मे है कि ये इतिहास-दार्शनिक वर्णनात्मक निरूपण को सिद्धान्त के पद पर प्रतिष्ठित कर देते हैं । ये अपने इस प्रतिपादन का कोई सैद्धान्तिक आधार नही देते कि क्यो सस्कृतिया जन्म-यौवन-जरा-क्रम से मरणापन्न होती हैं, ये केवल वर्णनात्मक रूप से दिखाते हैं कि अमुक अमुक सस्कृतिया इस प्रकार से मरणापन्न हुई और हो रही है । किन्तु किसी सिद्धान्त के अभाव मे न केवल यही नही अनिवार्य होता कि वर्तमान महा सस्कृति (जैसे पाश्चात्य सस्कृति) मरेगी ही, कि भावी सस्कृति जरा को भी प्राप्त होगी ही, मरने की बात तो दूर रही, बल्कि यह भी निश्चित नही होता कि किसी सस्कृति के मरने का क्या अर्थ है, और कि क्या अमुक सस्कृति मर ही गयी है अथवा केवल प्रसुप्त है । उदाहरणत यूनानी सस्कृति यूरोपीय सस्कृति मे जीवित नही है, यह नही कहा जा सकता, और चीनी तथा भारतीय सस्कृतिया मर चुकी हैं, यह भी नही कहा जा सकता, क्योकि इनके पुनरुज्जीवन

---

१३ पिटरिम सोरोकिन–सोश्योलोजीकल थीयरीज ऑफ टुडे, पृ० १९२ मे उद्धृत ।

की पूरी सभावनाए विद्यमान हे।[१४]

हमने पीछे सास्कृतिक अतिमानस की कल्पना की ओर सकेत किया। "मानस" (या "अतिमानस") की पहली शर्त है एक ओर उसकी अभिव्यक्तियो (इ गित, गति, चेष्टा, भाषरा) मे एक एकसूत्रता होना, और दूसरी ओर उनमे एक अनुभूत एकत्व का होना। उनमे पहली एकता बाहरी द्रष्टा के लिये है और दूसरी स्वय व्यक्ति (अथवा अधिष्ठाता) के लिये है। ऑर्केस्ट्रा तथा सिद्धान्त मे हम एक अन्य एकत्व पाते है जो उतना ही आन्तर होता है जितना अनुभूत एकत्व। ऑर्केस्ट्रा मे एक समजस एकत्व रहता है, यह सिद्ध करना आवश्यक नही है यह स्पष्ट है, किन्तु जबकि समजसता आर्केस्ट्रा की आत्मा है, व्यवहार मे आत्यन्तिक समजसता केवल एक आदर्श है जिसे चरितार्थ करने का प्रयत्न ऑर्केस्ट्रा का सयोजक कलाकार जीवन भर करता है। यह उतना ही सही तान और नृत्य के लिये भी है—कलाकार की साधना कभी पूरी नही होती। किन्तु तब भी, पूर्ण समजसता तान, नृत्य और ऑर्केस्ट्रा की आत्मा है, यह इनके जन्म के साथ ही उपजती है, यह केवल अभिव्यक्ति के प्रयत्न मे, अपने चरितार्थन की प्रक्रिया मे, अनुपलब्ध होती है। यही बात सिद्धान्त के लिये भी कही जा सकती है। सिद्धान्त की आत्मा उसकी तार्किक समजसता मे है, इसके लिये यह स्वाभाविक है कि इसका जन्म आत्यन्तिक सामजस्य के साथ हो, किन्तु इसकी यह निहित समजसता अपने चरितार्थन की प्रक्रिया मे केवल अपूर्णत ही उपलब्ध होती है। इस प्रकार जबकि इनमे मूल मे पूर्ण समजसता इनका स्वभाव है, अभिव्यक्ति मे पूर्ण समजसता केवल पार्यन्तिक कल्पना (लिमिटिंग कासेप्ट) है जिसके समीप से समीपतर आप पहुच सकते है किन्तु जिसे प्राप्त नही कर सकते। व्यक्तित्व भी वास्तव मे ऐसा ही एक एकत्व है जो अपने मूल प्राण-तत्व मे समजस है किन्तु तब भी जो असगतियो से मुक्त नही है। अनुभूत एकत्व और प्रकट असामजस्य मे विरोध-परिहार का यही मूल मत्र है।

क्या सस्कृति के लिये भी यही बात कही जा सकती है? हमे लगता है कि सस्कृतिगत एकत्व और असगतियो को केवल इसी प्रकार से समझा जा

---

१४ टॉयन्बी वास्तव मे पुनरुज्जीवन की सभावना को स्वीकार करते है, यह उनके राउट-रैली (आक्रमरा से नाश और पुनरुज्जीवन) के सिद्धान्त मे स्पष्ट है। किन्तु तब भी, इस क्रम का निश्चत अन्त नाश मे है।

सकता है। यह एकत्व किसी सस्कृति के जीवन-दर्शन, अथवा विश्व-दर्शन, मे निहित कहा जा सकता है, इस दर्शन को किसी सस्कृति का ज्ञातृत्वाभिमान[१५] (अपनेपन का बोध) कहा जा सकता है जिसमे इसकी अन्तर्निहित सप्राण सम-जसता का मूल है। इस ज्ञातृत्वाभिमान को, इस अपने जीवन-दर्शन को, प्रत्येक सस्कृति अपने विशिष्ट धर्म, पुराण, भाषा, कला, शिल्प और दर्शन की अभिव्यक्तियो के माध्यम से चरितार्थ करने का प्रयत्न करती है।

इस मूल दृष्टि को किसी सस्कृति का मूल प्राणतत्व कहने से यह अर्थापतित नही होता कि उसमे अन्य कोई रुचिया और प्रवृत्तिया होती ही नहीं। जिस प्रकार शरीर किसी व्यक्ति का व्यक्तित्व नही है किन्तु तब भी शरीर-पर्मपालन प्रत्येक व्यक्ति करता है, उसी प्रकार प्रत्येक सस्कृति भी अपने भौतिक अस्तित्व के विभिन्न धर्मो का पालन करती है, और इस प्रकार प्रत्येक सस्कृति मे अपने भौतिक परिवेश के विनियोजन के विविध प्रयत्न पाये जाते है—रसायनविज्ञान, औषधविज्ञान, राज्य-व्यवस्था, सैन्य-व्यवस्था, नीति-व्यवस्था आदि अनेक इसी प्रकार के विनियोजनात्मक प्रयत्न कहे जा सकते है और ये सभी समाजो मे पाये जाते हैं। किन्तु ये सभी न्यूनाधिक मात्रा मे सास्कृतिक मूल-दृष्टि—सास्कृतिक-ज्ञातृत्वाभिमान—से प्रभावित होते है। कुछ प्रयत्न भीतर से प्रभावित होते है, जैसे नीति-व्यवस्था, बहुत सीमा तक राज्य-व्यवस्था भी, और कुछ बाहर से, जैसे सैन्य-व्यवस्था, औषध-विज्ञान आदि। बाहर से प्रभावित होने का अर्थ है इनकी वृद्धि का प्रभावित होना, इनके स्वरूप का प्रभावित होना नही। उदाहरणत एक वैराग्य-प्रधान और ऐन्द्रिकता प्रधान सस्कृति मे सैन्य-व्यवस्थाए एक ही प्रकार की हो सकती है, किन्तु जबकि एक वैराग्य-प्रधान सस्कृति का किसी समय सैन्य-शक्ति मे समृद्ध होना असभव नही है, चिरकाल तक समृद्ध रहना कठिन है, यह किसी बाहरी चुनौती के सामने, या किसी आकस्मिक मन स्थिति मे ही एक उत्कृष्ट सैन्य-शक्ति को जन्म दे सकती है, किन्तु उसका शीघ्र ह्रास हो जाना आवश्यक है।

उदाहरणत भारतीय सस्कृति का मूल आत्मबोध योगसाधना पूर्वक मोक्ष कहा जा सकता है और इसके लिये इस अन्तरग एकत्व को हम असख्य

---

१५ इस शब्द के व्यापक अर्थ के लिये द्रष्टव्य यशदेव शल्य, ज्ञान और सत् मे "मानव प्रतिमा" अध्याय।

स्त्री-पुरुषो के तीर्थाटन मे, साधुओ, रुण्डमुण्ड साध्वियो, बालविधवाओ, लुजपुज भिखारियो, वनस्थ सन्यासियो, धर्मार्थ अर्थ-दान करते धनिको मे, जनक के राज-ऋषित्व मे, गौतम के बुद्धत्व मे, अशोक के पश्चात्ताप मे, हर्ष के राज-कोष-दान मे, आश्रम-व्यवस्था मे, अजामील-गीध-व्याध की भक्ति मे तथा मतवादो के प्रति आदर मे, देख सकते है। ये सब एक सस्थान बनाते है जिसकी आतर एकता इस मूल दृष्टि मे है। इसी मूल एकत्व मे, इसी ज्ञातृत्वाभिमान मे, सस्कृति का एकत्व होता है, जिस प्रकार कि व्यक्तित्व का अधिष्ठान अनुभूत एकत्व मे, जिसकी अन्तर्वस्तु (काटेंट) ज्ञातृत्वाभिमान होती है, होता है।

किन्तु इसमे एक बडी कठिनाई है वैयक्तिक व्यक्तित्व का अधिष्ठान जबकि अनुभूत है, जोकि देशकालातीत होने पर भी कम से कम घटनात्मक है, क्या सास्कृतिक व्यक्तित्व का अधिष्ठान भी इसी प्रकार अनुभूत, और अतएव घटनात्मक, कहा जा सकता है? यदि इसे अनुभूत नही माना जाय तो "सास्कृतिक अतिमानस" का अस्तित्व सन्देह मे पड जाता है। यह एक अलघ्य कठिनाई प्रतीत होती है, क्योकि हम केवल बाहर से ही सास्कृतिक एकत्व के द्रष्टा हो सकते है, भीतर से नही। व्यक्तित्व रूप मे हम सस्कृति का अनुभव करते है, अथवा कहे, हमे सास्कृतिक अनुभव घटित होते है, किन्तु ये हमे वैयक्तिक अधिष्ठान मे ही प्रदत्त हो सकते है सास्कृतिक अधिष्ठान मे नही। इस प्रकार सस्कृति का अधिष्ठान अनुभूत एकत्व मे नही देखा जा सकता। किन्तु यह अधिष्ठान हमारे लिये अन्य व्यक्ति के व्यक्तित्व के अनुरूप भी नही होता। हमारे से इसका सम्बन्ध वैसा ही होता है जैसा सामान्य प्रत्यय के साथ विशेष प्रत्यय का, जैसे राग आसावरी के साथ गीत (गाये गये) आसावरी का। किन्तु सस्कृति का अस्तित्व ठीक वैसा नही है जैसा सामान्य प्रत्यय का या राग आसावरी का होता है। यह अस्तित्व इनसे अधिक ठोस होता हे, यह स्वत एक गीत के जैसा होता है, जिसे हम उतना ही स्पष्टत देखते है जितना गीत को, यह उतनी ही घटित होती हे जितना गीत अथवा व्यक्तित्व।

यहा यह प्रश्न हो सकता है कि क्या यह सास्कृतिक एकत्व उसी प्रकार किसी मानस मे घटित होता है जिस प्रकार वैयक्तिक एकत्व किसी मानस मे घटित होता है? वास्तव मे यह एक भ्रामक प्रश्न है, क्योकि मानस का एकत्व स्वत केवल अनुभूत एकत्व ही है, जिसकी वृत्ति अभिमान है। यह वृत्ति अन्य

सब वृत्तियों का किसी भी एक विशेष क्षरण पर आकलन करती है और उनको रजित करती हे। यही बात सास्कृतिक एकत्व के लिये है—यह अन्य वृत्तियों मे एक वृत्ति हे, यह केवल अपने लक्षणो मे भिन्न हे। यह इस दृष्टि से अभिमान रूप है कि यह जातीय स्मृतियो और आकाक्षाओ मे व्यक्त होती है। किन्तु इसका लक्षण ऐसे सस्थानो और आकारो मे व्यक्त होता है जो व्यक्ति के विशेष लक्षणो मे साधारण रहते ह। भाषा इसका उत्कृष्ट उदाहरण है—व्यक्ति अपनी भाषा का प्रयोग करता है, अपनी विशेष ध्वनिया और वाक्यरूप प्रयुक्त करता है जिनके द्वारा वह अपने विचार व्यक्त करता है, किन्तु यह व्यक्ति-भाषा जाति-भाषा मे उत्पन्न होती है, सागर मे वीचि के समान, यह भाषा एक सामान्य भाषा के स्वरूप ओर लक्षणो से पूर्णत. निर्धारित होती है—ध्वनि-रूप, अर्थ-व्यजना और वस्तु-अवधारण सभी दृष्टियो मे। इसमे सभी व्यक्ति, जो उस भाषा-परिवार के हे, सहभाग लेते है।

अत सस्कृति रूप मानस-घटना की कल्पना मे कोई कठिनाई नही होनी चाहिये, क्योंकि "अनुभव-घटना" की अवधारणा के लिये यह कोई अनिवार्यता नही है कि वह रमेश या सुरेश के जैसे व्यक्तित्व की ही अधिष्ठान हो सकती है। यह क्षुद्र से क्षुद्रतर व्यक्तित्व से लेकर विशाल से विशालतर व्यक्तित्व की अधिष्ठान हो सकती है। यही वास्तव मे पूर्ण-प्रत्यय अथवा ब्रह्म और विश्व-मन आदि की कल्पना का मूल हे। इसे समझने मे कठिनाई केवल उन्ही को हो सकती है जो बोध को शरीरादि से पृथक् या देश-काल निरपेक्ष रूप मे नही सोच सकते। किन्तु एक वार अनुभूत एकत्व अथवा ज्ञातृत्वाभिमान को इनसे निरपेक्ष रूप म कल्पित कर सकने पर इसमे कोई कठिनाई नही रहती। वास्तव मे हमने गीत आदि के जिन एकत्वो मे इस एकत्व को उपमित किया हे वे भी वाद्य-वादक, विशिष्ट ध्वनि-समवाय आदि मे निहित नही होकर स्वाधिष्ठित ही होते है। ऐसी अवस्था मे ऐसे राग की असभवता नही है जिसकी तान असख्य, और शायद सब भी, स्वरो का समावेश करे। इस प्रकार सास्कृतिक मानस और उसके अधिष्ठानभूत अनुभव की कल्पना म कोई कठिनाई नही रह जाती। इसका अधिष्ठान व्यक्ति के व्यक्तित्व के समान अनुभूत एकत्व मे नही होता, क्योंकि व्यक्ति अपना अतिक्रमण कर इस व्यक्तित्व के एकत्व का अनुभव नही कर सकता। इसलिये इसके एकत्व को गीत की उपमा पर कल्पित करना उपयुक्त है। इसे हम देखते भी है और

भोगते भी, किन्तु इसका भोग इसम निहित होकर करते है, इसको निहित करके नही। दूसरे शब्दो मे, यह वृत्तियो का ऐसा सस्थान है जो व्यक्ति-सस्थानो मे अपना स्वरूप व्यक्त करता है, जिस प्रकार व्यक्ति मे निहित विभिन्न वृत्ति-सस्थान व्यक्तित्व मे रजित होते है।

३

भाषा

पीछे, दूसरे अध्याय मे, हमने सास्कृतिक अतिव्यक्तित्व के स्वरूप पर विचार करते हुए देखा था कि यह अतिव्यक्तित्व कला, दर्शन, भाषा आदि विभिन्न प्रतीक-रूपो मे, अथवा कहें रचनात्मक सदर्भो मे, अपनी अभिव्यक्ति करता है। मन सवेद मे अपने को प्रकाशित करता है और अवधारण मे क्रियान्वित करता है। अवधारण का अर्थ है—विषय-ग्रहण। मन विश्व से, और अपने से भी, इस विषय-ग्रहण के रूप मे सम्पर्क स्थापित करता है। विषय के स्वरूप से हम मन के आकार को देख सकते है जो विषय-ग्रहण अथवा वस्तु-अवधारण मे व्यक्त होता है। यह जितना मानव-मन के लिए सही है उतना ही पशु-मन के लिए भी सही है। किन्तु यहा एक रोचक तथ्य द्रष्टव्य है—पशु-मन हो या मानव-मन, दोनो के ज्ञान का आकार (फोर्म) व्यक्ति-मन का अतिक्रमण करता है, यह जाति-मन मे क्रियान्वित होता है। कुत्ते का वस्तु-अवधारण-प्रकार कुत्ता-जाति का वस्तु-अवधारण-प्रकार होता है, कुत्ता-व्यष्टि का नही। यह अवधारण यदि सहज प्रवृत्ति-रूप (इ स्टिंक्टिव) है तब भी है यह अवधारण ही, केवल यह व्यष्टि-मन का अतिक्रमण अधिक पूर्ण रूप से करता है। ऐसा भी कहा जा सकता है कि प्रवृत्यात्मक प्राणियो मे सवेद का प्रकाश जबकि व्यष्टि-मन मे होता है, अवधारण पूर्णत जाति-मन मे होता है। मानवीय वस्तु-अवधारण भी इसी प्रकार से जाति-मन मे ही होता है, केवल इतना अन्तर है कि इसमे यह अवधारण वैयक्तिक चेतना का विषय भी होता है। पाशव अवधारणो तथा मानवीय अवधारणो मे एक अन्य मौलिक अन्तर है। पाशव-अवधारण जबकि जैव सदर्भ मे होते हैं, मानवीय अवधारण सास्कृतिक सदर्भ मे होते हैं। दूसरे शब्दो मे कहा जा मकता है कि, जबकि

प्राणी-मन का आकार जैव हे, मानव-मन का आकार सास्कृतिक है। अवधारण के सदर्भ को 'सास्कृतिक' कहने का अर्थ है कि यह जैव-प्रयोजनो का अतिक्रमण कर रचनात्मक सदर्भ मे व्यापारित होता है। यदि विभिन्न सास्कृतिक रूपो—भाषा, विज्ञान, धर्म, कला आदि—का जन्म "प्रकृति के अभियोजन" के सदर्भ मे भी हुआ माना जाय तब भी यह मानव की उस सृजन-चेतना का व्यापार है जो विश्व-योजना करती है। सभी मानवीय अभियोजन वासना और आवेग का सन्दर्भ छोडकर रचनात्मक अर्थ के सन्दर्भ मे व्यापारित होते हैं, जिसमे अभिनिवेश वासना-व्यय के बजाय व्यवस्थान और मूल्य का रूप ले लेता है।

सास्कृतिक रचनाओ मे भाषा को शायद सब से अधिक महत्वपूर्ण कहा जा सकता है, क्योकि यह विश्व-योजना का व्यापकतम माध्यम है। वास्तव मे यह ऐसी प्रतीक-व्यवस्था है जो व्यक्ति का सबसे अधिक व्यापक, अभेद्य और ठोस परिवेश बनाती है, किन्तु तब भी जो सबसे अधिक पारदर्शी और लोचदार रहती है। बजामिन ली व्होर के शब्दो मे, "यह व्यवस्था वैयक्तिक चेतना के सकीर्ण-वृत्त के बाहर से आरोपित रहती है और वैयक्तिक चेतना को एक कठपुतली के समान नियन्त्रण मे रखती है, उसकी सभी भाषीय क्रियाए इसके अदृश्य किन्तु अटूट सूत्रो के द्वारा निर्दिष्ट होती हैं। यह ऐसे होता है मानो वैयक्तिक मन, जोकि शब्दो का चयन करता है किन्तु सस्थान के प्रति अचेत रहता है, एक उन्नततर और कही अधिक विचार-समर्थ मन के नियन्त्रण मे हो। इस मन मे घरो, चारपाइयो और बर्तनो का कोई बोझ नही रहता किन्तु यह इतने महत् स्तर पर व्यवस्थान और गणितीकरण कर सकता है कि कोई गणितशास्त्री उसके समीप तक भी नही पहुच सकता।"[1]

× × ×

भाषा को ऐसी श्रव्य या दृश्य आकृतिया कह सकते है जो अर्थ-गर्भ हैं। श्रव्य या दृश्य आकृतियो का अस्तित्व विशुद्ध रूप से भौतिक है किन्तु अर्थ के वाहक के रूप मे यह अस्तित्व पूर्णत रूपान्तरित हो जाता है। किन्तु भाषा की यह परिभाषा कुछ स्पष्ट नही करती, इस दृष्टि से पशु की हुकार और चीत्कार भी भाषा की कोटि की हो जायगी, और इसी प्रकार से सगीत की

---

१ इस सिद्धान्त की विस्तृत स्थापना हमने अपनी पुस्तक ज्ञान और सत् मे की है।

३

भाषा

पीछे, दूसरे अध्याय मे, हमने सास्कृतिक अतिव्यक्तित्व के स्वरूप पर विचार करते हुए देखा था कि यह अतिव्यक्तित्व कला, दर्शन, भाषा आदि विभिन्न प्रतीक-रूपो मे, अथवा कहे रचनात्मक सदर्भो मे, अपनी अभिव्यक्ति करता है। मन सवेद मे अपने को प्रकाशित करता है और अवधारण मे क्रियान्वित करता है। अवधारण का अर्थ है—विषय-ग्रहण। मन विश्व से, और अपने से भी, इस विषय-ग्रहण के रूप मे सम्पर्क स्थापित करता है। विषय के स्वरूप से हम मन के आकार को देख सकते हैं जो विषय-ग्रहण अथवा वस्तु-अवधारण मे व्यक्त होता है। यह जितना मानव-मन के लिए सही है उतना ही पशु-मन के लिए भी सही है। किन्तु यहा एक रोचक तथ्य द्रष्टव्य है—पशु-मन हो या मानव-मन, दोनो के ज्ञान का आकार (फोर्म) व्यक्ति-मन का अतिक्रमण करता है, यह जाति-मन मे क्रियान्वित होता है। कुत्ते का वस्तु-अवधारण-प्रकार कुत्ता-जाति का वस्तु-अवधारण-प्रकार होता है, कुत्ता-व्यष्टि का नही। यह अवधारण यदि सहज प्रवृत्ति-रूप (इ स्टिंक्टिव) है तब भी है यह अवधारण ही, केवल यह व्यष्टि-मन का अतिक्रमण अधिक पूर्ण रूप से करता है। ऐसा भी कहा जा सकता है कि प्रवृत्यात्मक प्राणियो मे सवेद का प्रकाश जबकि व्यष्टि-मन मे होता है, अवधारण पूर्णत जाति-मन मे होता है। मानवीय वस्तु-अवधारण भी इसी प्रकार से जाति-मन मे ही होता है, केवल इतना अन्तर है कि इसमे यह अवधारण वैयक्तिक चेतना का विषय भी होता है। पाशव अवधारणो तथा मानवीय अवधारणो मे एक अन्य मौलिक अन्तर है। पाशव-अवधारण जबकि जैव सदर्भ मे होते है, मानवीय अवधारण सास्कृतिक सदर्भ मे होते हैं। दूसरे शब्दो मे कहा जा सकता है कि, जबकि

प्राणी-मन का आकार जैव है, मानव-मन का आकार सास्कृतिक है। अवधारण के सदर्भ को 'सास्कृतिक' कहने का अर्थ है कि यह जैव-प्रयोजनो का अतिक्रमण कर रचनात्मक सदर्भ मे व्यापारित होता है। यदि विभिन्न सास्कृतिक रूपो—भाषा, विज्ञान, धर्म, कला आदि—का जन्म "प्रकृति के अभियोजन" के सदर्भ मे भी हुआ माना जाय तब भी यह मानव की उस सृजन-चेतना का व्यापार है जो विश्व-योजना करती है। सभी मानवीय अभियोजन वासना और आवेग का सन्दर्भ छोडकर रचनात्मक अर्थ के सन्दर्भ मे व्यापारित होते हैं, जिसमे अभिनिवेश वासना-व्यय के बजाय व्यवस्थान और मूल्य का रूप ले लेता है।

सास्कृतिक रचनाओ मे भाषा को शायद सब से अधिक महत्वपूर्ण कहा जा सकता है, क्योकि यह विश्व-योजना का व्यापकतम माध्यम है। वास्तव मे यह ऐसी प्रतीक-व्यवस्था है जो व्यक्ति का सबसे अधिक व्यापक, अभेद्य और ठोम परिवेश बनाती है, किन्तु तब भी जो सबसे अधिक पारदर्शी और लोचदार रहती है। बजामिन ली व्होर के शब्दो मे, "यह व्यवस्था वैयक्तिक चेतना के सकीर्ण-वृत्त के बाहर से आरोपित रहती है और वैयक्तिक चेतना को एक कठपुतली के समान नियन्त्रण मे रखती है, उसकी सभी भाषीय क्रियाए इसके अदृश्य किन्तु अटूट सूत्रो के द्वारा निर्दिष्ट होती हैं। यह ऐसे होता है मानो वैयक्तिक मन, जोकि शब्दो का चयन करता है किन्तु सस्थान के प्रति अचेत रहता है, एक उन्नततर और कही अधिक विचार-समर्थ मन के नियन्त्रण मे हो। इस मन मे घरो, चारपाइयो और बर्तनो का कोई बोझ नही रहता किन्तु यह इतने महत् स्तर पर व्यवस्थान और गणितीकरण कर सकता है कि कोई गणितशास्त्री उसके समीप तक भी नही पहुच सकता।"[1]

× × ×

भाषा को ऐसी श्रव्य या दृश्य आकृतिया कह सकते है जो अर्थ-गर्भ हैं। श्रव्य या दृश्य आकृतियो का अस्तित्व विशुद्ध रूप से भौतिक है किन्तु अर्थ के वाहक के रूप मे यह अस्तित्व पूर्णत रूपान्तरित हो जाता है। किन्तु भाषा की यह परिभाषा कुछ स्पष्ट नही करती, इस दृष्टि से पशु की हुकार और चीत्कार भी भाषा की कोटि की हो जायगी, और इसी प्रकार से सगीत की

---

१ इस सिद्धान्त की विस्तृत स्थापना हमने अपनी पुस्तक ज्ञान और सत् मे की है।

तान भी। पशु की हुकार भाषा से मूलत भिन्न कोटि की है, यह भेद इस बात मे है कि जबकि हुकार मन स्थिति को व्यक्त करती है, भाषा विषय-निरूपण करती है, यह कथनात्मक है। दूसरे शब्दो मे, यह ऐसा माध्यम है जिसमे विषय-जगत आकारहीन पिण्ड मे से ऊपर उठकर अपना स्वतन्त्र रूप ग्रहण करता है। हमारा यह प्रतिपादन उस विचार-सम्प्रदाय से एकदम विपरीत जाता है जो भाषा का स्रोत सवेगो की अभिव्यजक चीत्कार आदि को मानता है। यह सवेग-सिद्धात, जिसे "पूह-पूह" सिद्धात भी कहा जाता है, भाषा का स्वरूप समझने मे न केवल सहायक ही नही है बल्कि बाधक भी है, क्योकि सवेग-निकास केवक एक शरीर-क्रिया है जो अधिक से अधिक चिह्न के स्तर तक तो उठ सकती है किन्तु जो प्रतीक का स्तर, जो सस्थानात्मक और अतएव व्यवस्थानात्मक है, नही प्राप्त कर सकती। "सवेगात्मक ध्वनि तथा शब्द के बीच इतनी बडी खाई है कि यह कहा जा सकता है कि सवेग-ध्वनि भाषा का निषेध है, क्योकि यह ध्वनि उस समय की जाती है जबकि कोई या तो बोलने मे असमर्थ हो, या बोलना नही चाहता हो।"[२] यही आपत्ति भाषा की उत्पत्ति सम्बन्धी उन अन्य सिद्धान्तो[३] के विरुद्ध भी सही है जो भाषा और पाशव-अभिव्यक्तियो मे गुणात्मक तारतम्य देखते है और इनमे केवल मात्रात्मक अन्तर मानते है। जैस्पर्सन इन सिद्धान्ता की अपर्याप्तता सिद्ध करने के बाद लिखते है ·

"मै जिस विधि को उचित मानता हू, और जिसे प्रस्तुत करने वाला मै प्रथम व्यक्ति हू, वह हमारी आधुनिक भाषाओ के पद-चिह्नो की खोज इतिहास मे इतनी दूर तक करती है जितना सम्भव है यदि इस प्रक्रिया से हम ऐसी ध्वनियो तक पहुचते है जिन्हे भाषा नही कहा जा सकता, बल्कि उसका पूर्वगामी कहा जा सकता है, तब समझना चाहिए कि हमने समस्या का समाधान प्राप्त कर लिया, क्योकि हम रूपान्तरण को तो समझ सकते है

---

२ बजामिन ली व्होर-लॅंग्वेज, थाट एण्ड रियालिटी, मेसाचुसेट इ स्टीट्यूट ऑफ टेक्नोलोजी, पृ० २५७

३ ओट्टो जैस्पर्सन-लॅंग्वेज, इट्स नेचर, डिवेलपमेट एण्ड ऑरिजिन, ज्योर्ज एलन एण्ड अनविन, लडन, पृ० ४१५।

किन्तु शून्य मे से सृष्टि को नही समझ सकते ।"[४]

इस सिद्धान्त के अनुसार यह रूपान्तरण तब हुआ जबकि मानवीय ध्वनिया, जोकि पहले केवल सवेगात्मक चीत्कार या किलक थी, अथवा सभवत सगीतात्मक पद थे, सज्ञाओ के रूप मे प्रयुक्त की जाने लगी, जो पहले अर्थहीन ध्वनि-समवाय था इस प्रकार से वह अकस्मात् विचार का वाहक बन गया। उदाहरण के लिए, एक ध्वनि-समवाय, जोकि पराजित शत्रु के वध के अवसर पर सगीतात्मक ध्वनियों के रूप मे फूट पडा, वह काल-क्रम मे उस घटना की व्यक्ति-सज्ञा हो गया, और तब यह अनुक्रम मे अनुरूप स्थितियो का सामान्य सज्ञापक बन कर अर्थ-युक्त बन गया।"[५]

वास्तव मे यह पूर्ण रूपान्तरण ही वह महत्वपूर्ण अन्तर है जो पाशव अभिव्यक्तियां और मानव-भाषा के बीच है, जो सकेत को प्रतीक से भिन्न करता है, और जिसे किसी मात्रात्मक सम्प्रत्यय द्वारा नही समझा जा सकता। पशुओ मे यह चिह्नात्मक भाषा व्यापक रूप से पायी जाती है।[६] मात्रात्मक सम्प्रत्यय भौतिक और जैविक विकास को समझने के लिये तो उपयुक्त हो सकता है किन्तु मानसिक (चैतसिक) वस्तुस्थितियो को समझने के लिये उपयुक्त नही

---

४ वही, पृष्ठ ४१८

५ वही, पृ० ४३७

६ इसके कुछ विपरीत उदाहरण कृमिया के व्यवहार से दिये जा सकते है। उदाहरणत, मधुमक्खियो मे देखा जाता है कि वे एक नृत्य द्वारा अपनी साथी मधुमक्खियो को उस स्थान की दूरी और दिशा की सूचना देती हैं जहा से मधु के लिए रस मिल सकता है। द्रष्टव्य एन टिन्बर्जन—"ए स्टडी आफ़ी इ स्टिक्ट" आक्सफर्ड, क्लेरडन प्रेस, पृ० ५५। इस नृत्य मे प्रतीक-रूपता के सभी लक्षण देखे जा सकते है क्योकि यह नृत्य स्पष्टत सवादात्मक है और सामान्य निर्देशक है, और यह सामान्य-निर्देश अत्यन्त जटिल प्रकार का भी है। किन्तु तब भी यह मानना अत्यन्त कठिन प्रतीत होता है कि यह नृत्य प्रतीकरूप है, क्योकि नृत्य किसी सवाद-सस्थान मे अनुस्यूत प्रतीत नही होता। तो भी, यह सभव है कि कृमि-विश्व मे मधुमक्खियो और चीटियो आदि मे एक अत्यन्त भिन्न प्रकार की प्रतीक-व्यवस्था विद्यमान हो।

हो सकता । इसलिए मात्रात्मक तारतम्य जैविक अस्तित्व के स्तरो मे—जैसे बन्दर और मनुष्य के भेजे के निर्माण मे—देखना तो उपयुक्त हो सकता है किन्तु चेतना के दो स्तरो मे देखना उपयुक्त नही हो सकता । उदाहरणत हाथ उठाने की क्रिया के दो प्रकारो को देखा जा सकता है । वुट के अनुसार "मानव की अत्यन्त आदिम अवस्था से उसकी भुजाए और हाथ वस्तुओ को पकडने और उनको अधिकार मे करने के अवयवो के रूप मे सक्रिय रहे है । हस्तगत करने के इस आदि उपयोग के अवयवो से, जिसमे कि ऐसी ही क्रियाओ की दृष्टि से मनुष्य उन्नतस्तरीय प्राणियो से केवल मात्रात्मक रूप से उत्कृष्ट है गुणात्मक रूप से नही, अनुक्रम मे ऐसे रूपान्तर होते हैं जो आरम्भ मे तो प्रतिगामी होते है किन्तु जो अपने परिणामो मे अग्रगामी विकास के तत्वो से समवेत होते हैं और क्रमश हस्त की अनुकरणात्मक क्रियाओ को सम्भव करते हैं । जननात्मक (जेनेटिक) दृष्टि से देखते हुए, यह केवल एक ग्रहणमूलक क्रिया का सकेतात्मक इ गित के रूप मे सूक्ष्मीकरण है ।"[७] और यह प्रकट रूप से एक सरल विकास वास्तव मे पाशव से मानवीय स्तर पर सक्रमण मे एक महत्वपूर्ण चरण है । मानव के नीचे उन्नततम प्राणी की भी हस्त-गति ग्रहणात्मक स्तर के बन्धन से मुक्त होकर इस सकेतात्मक स्तर पर नही उठ पाती, जोकि उत्सुकता के सवेग को व्यक्त करने की स्थिति से आगे विषय-निर्देश का स्तर है । इन दो स्तरो मे कोई तारतम्य नही है ।

इसके उत्तर मे कहा जा सकता है कि मानव और पशु मे जैव निरतरता तो है ही, और क्योकि भाषा और अन्य सब मानसिक क्रियाए शरीर के जैव विकास के स्तर पर, जैसे भेजे और तन्तुवाय के विकास के स्तर पर, निर्भर करती है इसलिए मानसिकता मे भी तारतम्य देखना अनुचित नही कहा जा सकता । किन्तु यह दो कारणो से भ्रामक है, प्रथम तो, यदि विशुद्ध रूप से जैव व्याख्या की दृष्टि से भी अवयवो को प्रकार्यात्मक माना जाय, जैसाकि अनेक जीववैज्ञानिक मानते हैं, तब जितना मानसिकता का विकास जैव विकास का अनुषगी कहा जा सकता है उतना ही जैव विकास मानसिक

---

७ वुट डी० स्प्राग, बूकर, साईकोलोजी, द्वितीय सस्करण, पृष्ठ १२६ । यहा कैसीरर की फिलोसोफी ऑफ सिम्बोलिक फोर्म्स,' भाग १ से उद्धृत, पृ० १८

विकास का अनुपगी कहा जा सकता है। डार्विन के प्राकृतिक चुनाव के सिद्धान्त की यह एक स्वाभाविक अर्थापत्ति है। इसके अनुसार, अवयव की वृद्धि और विकास इसके प्रयोग के अनुगामी है।

किन्तु दूसरा और महत्त्वपूर्ण कारण यह है कि मानसिकता के नियम जैव नियमो से भिन्न होते है और उन्हें मात्रात्मक तारतम्य मे तथा जननात्मक व्याख्या (जेनेटिक एक्स्प्लेनेशन) द्वारा नही समझा जा सकता। मात्रात्मक तारतम्य देखने वाला मानव की हाथ द्वारा सकेत करने की सामर्थ्य को उसके भेजे मे खोजेगा और इस प्रकार वन्दर और मानव के मस्तिष्क मे साम्य और वैषम्य के आधार पर इसकी व्याख्या करेगा, किन्तु मानसिक क्षेत्र मे, दूर-स्थित वस्तु को पकडने की उत्सुकता मे हाथ उठाने और उस ओर सकेत कर साथी को बताने की क्रियाओ मे एक मौलिक अन्तर है। यह दो वृत्तियो मे गुणात्मक अन्तर है, ये सज्ञान के दो मूलत भिन्न रूप है। सकत द्रष्टा और दृश्य के बीच एक पूर्ण व्यवच्छेद घटित हो जाने का द्योतक है जो मनुष्य को जैव जीवन के ऊपर एक मानसिक जीवन देता है। अब मनुष्य के इस मानसिक जीवन मे रूपान्तरण के ऐसे उदाहरण पाना अत्यन्त सहज हे जिनका कोई सह-सम्वन्ध शरीर मे पाना असम्भव है। गाधीजी ने अपने स्कूल के दिनो के सस्मरण लिखते हुए वताया है कि किस प्रकार पहले उन्हें ज्यामिति समझ मे नही आती थी और यह एक अत्यन्त अरोचक विषय लगता था। किन्तु एक दिन एक प्रश्न हल करते हुए उन्हें सहसा दिखाई दिया कि ज्यामिति एक अत्यन्त तर्क-सगत व्यवस्था है, और तब से उनके लिये वह एक सरल और रोचक विषय हो गया। इस घटना से स्पष्ट है कि गाधीजी के मानसिक जीवन मे एक क्राति घटित हुई, एक नये वोध का जन्म हुआ और उसने उनको मानसिक सरचना को एक नया रूप दे दिया। यह और भी चमत्कारी रूप से नया मूल्य-बोध प्राप्त होने पर देखा जाता है। उदाहरणत कलिंग-विजय के उपरान्त हताहतो को देखकर अशोक को जो पश्चात्ताप हुआ उसने उसे एक नया मानसिक स्तर दिया जो पहले स्तर से उतना ही विच्छिन्न और उत्कृष्ट था जितना पाशव से मानव स्तर, किन्तु इसे शारीरिक अ गो से किसी भी प्रकार से सम्बन्धित नही किया जा सकता। यह जितना सही वैयक्तिक इतिहास के लिए है उतना ही सही जातीय इतिहास के लिए भी है—जातीय इतिहास मे, चेतन स्तर के नीचे जन्म लेते हुए विचारो को जव कोई प्रतिभा-

शाली व्यक्ति नाम दे देता है तब जातीय चेतना एक झटके से नया रूप ले लेती है। विज्ञान मे न्यूटन और आईंस्टाईन के आविर्भावो के पश्चात् वैज्ञानिक प्रगति मे नये आयाम और नयी त्वरा इसके लिये प्रमाण है।

× × ×

भाषा को हमने एक प्रतीक-सस्थान कहा, जो अन्य प्रतीक-सस्थानो मे एक प्रतीक-सस्थान है। इसका वाहन सरचित ध्वनिया है, इसका स्वरूप अभिधानात्मक अर्थ-सस्थान है, और इसकी इकाई वाक्य है जो ध्वनि-सरचना और अर्थ-सस्थान के अनिवार्य नियमो मे सूत्रित होता है। वास्तव मे जितनी पूर्ण सस्थानात्मकता और सरचितता (पैटर्निंग और स्ट्रक्चरिंग) भाषा के अर्थ-पक्ष मे रहती है उतनी ही इसके ध्वनि-पक्ष मे रहती है। इगलिश भाषा की ध्वनि-सरचना का विश्लेषण करते हुए बैंजामिन ली व्होर कहते है— "इससे स्पष्ट है कि शब्द-निर्माण निर्बन्ध कल्पना का कार्य नही है—निरर्थकता की स्वच्छन्दतम उडानो मे भी नही। यह पहले से निर्धारित सस्थानो मे प्रदत्त सामग्री का ही उपयोग कर सकती है। यदि किसी वक्ता से ऐसे शब्द-रूपों की रचना करने को कहा जाय जो उसकी भाषा के सस्थान मे पहले ही निरूपित नही है तो वह वक्ता उसी प्रकार से इसमे असमर्थ रहेगा जैसे कोई अडे के बिना आमलेट बनाने मे।"[८] भाषा-ध्वनियो को यह सरचनात्मकता (स्ट्रक्चर एण्ड पैटर्न) इसे पाशव-ध्वनियो से या सवेगात्मक ध्वनियो से पृथक् करने वाला उतना ही विशिष्ट लक्षण है जितना अर्थ की सस्थानात्मकता या शब्द-योजना की व्याकरणात्मकता है। पाशव-ध्वनियो मे कोई सस्थान नही देखा जाता, उनका रूप पूर्णत पशु की शरीर-व्यवस्था से निर्धारित होता है। इसके विपरीत मानव-भाषा की ध्वनियो मे एक व्यवस्था है और उसमे

---

८ अकार्यवादी व्याख्या को सामान्य रूप से पीछे के जीव वैज्ञानिकों ने छोड दिया है और वे भौतिकवादी यान्त्रिकतावादी व्याख्या का समर्थन करते है। द्रष्टव्य डॉब्स हेस्काई—जेनेटिक्स एण्ड दि ऑरिजिन ऑफ स्पेसीज, तथा ज्योर्ज गेलार्ड सिम्प्सन दि मीनिंग ऑफ एवोल्यूशन, येल यूनीवर्सिटी प्रेस। किन्तु इससे हमारे प्रतिपादन मे कोई अन्तर नही पडता क्योंकि जैवविकास की एक या दूसरी व्याख्या को हम मानसिक विकास की व्याख्या के लिए आधार बनाना उपयुक्त नही समझते।

पूर्णत एक तार्किक सरचना है, यह व्यवस्था या सरचना उसकी शरीर-रचना से निर्धारित नही होती। यदि यह शरीर-रचना से निर्धारित होती तो सब मनुष्यो की भाषा का ध्वनि-सस्थान एकसा होता, जबकि वह एकसा नही होता है। इतना ही नही, भाषा के ध्वनि-रूप मे परिवर्तन भी एक निश्चित व्यवस्था मे होता है।

जैसाकि हमने ऊपर कहा, भाषा अभिधानात्मक है—यह अपोहपूर्वक अर्थबोध कराती है, जिसका अर्थ है कि सर्जनात्मिका वृत्ति एक योजना मे वस्तु-ग्रहण करती है और व्यवस्थित रूप से शेष को छोड देती है। यहा 'शेष को छोडने' के दो अर्थ है 'राम जाता है' वाक्य सम्पूर्ण वस्तुस्थिति मे से एक अ श को उत्कीर्ण कर अलग कर लेता है, 'राम सुन्दर है', 'राम धनुर्धर है', 'राम श्याम वर्ण है' आदि स्थितिया इसके द्वारा अपोहित हो जाती हैं। किन्तु इसका एक दूसरा और अधिक महत्त्वपूर्ण अर्थ है, जिस अर्थ मे यह सर्जनात्मिका वृत्ति "शेष को छोडती" है। यह "शेष" कुछ वस्तु नही है, केवल सर्जन की विभिन्न तार्किक सभावनाए है। 'राम जाता है' वाक्य उस अर्थ-सस्थान का एक वाक्य है जो देश, काल, गति, स्थिति, सयोग, विभाग, वस्तु, गुण, क्रिया आदि को एक विशेष प्रकार से सरचित करता है, ये अनेक प्रकार से सरचित हो सकते है, हमारी भाषा मे असख्य मे से केवल एक रचना-प्रकार क्रियान्वित होता है। यह रचना-प्रकार शेष रचना-प्रकारो का निषेध कर देता है। उदाहरणत, अनेक भाषाओ मे उद्देश्य-विधेय नही होते, परिणामत उनमे व्यक्तिवाचक सज्ञा का भी वही अर्थ नही हो सकता जो हमारी भाषा मे है, क्रिया के वाच्य मे तो इससे मूलत अन्तर पड जायगा। यह अपोहत्व ही भाषा को प्रतीकात्मक बनाता है। 'पानी' शब्द पानी वस्तु का वाचक है, इसकी यह वाचकता सकेतात्मकता से भिन्न प्रकार का सम्बन्ध है, क्योकि यह सम्बन्ध 'पानी' शब्द और पानी के किसी विशेष उद्दीपन के बीच नही है, शब्द और पानी के कल्पना-बिम्ब के बीच भी नही है, बल्कि यह अत्यन्त व्यवहित सम्बन्ध है। यह व्यवहितत्व इस बात मे है कि यह शब्द विभिन्न वाक्यो मे उनके अविभाज्य अ ग के रूप मे घटित होता है। वाक्य मे कारक, वचन, काल और अन्वय आदि अनेक व्यवस्थानात्मक सम्बन्ध रहते हैं। यह तथ्य 'पानी' शब्द को नाम बनाता है। नाम का वस्तु अथवा उसके बिम्ब के साथ सम्बन्ध उसके सम्प्रत्यय के माध्यम से होता है, जो सम्बन्ध कि

प्रत्येक शब्द मे सम्पूर्ण भाषा मे सक्रिय रचनात्मक सम्प्रत्यय के निवेश द्वारा घटित होता है। भाषा का यह स्वभाव विशेष रूप से आदिम जातियो की सस्कृतियो के अध्ययन के प्रसग मे ज्ञात हुआ। इन सस्कृतियो, अथवा कहे जातीय जीवन-रूपो, के अध्ययन के प्रसग मे पाया गया कि ये रूप विभिन्न सस्कृतियो मे बहुत भिन्न प्रकार के हैं और ये प्रकार-भेद उससे कही गभीरतर है जितने कि ऊपरी दृष्टि से प्रतीत हो सकते है। धार्मिक, दार्शनिक, कलात्मक आदि क्षेत्रो मे भिन्न-भिन्न सस्कृतियो मे भेद पहले से ही ज्ञात थे, किन्तु प्रथम दो क्षेत्रो मे भेदो का समाहार उस साधारण दृष्टिकोण-भेद के अन्तर्गत हो जाता है जो हम दो व्यक्तियो के बीच देखते है। किन्तु जब यह पाया गया कि कुछ भाषा-परिवार भी हमारे भाषा-परिवार से मूलत भिन्न हैं और यह भेद इतना गम्भीर है कि न केवल शब्दो के पर्याय शब्द ही नही मिल सकते बल्कि वाक्यो का अनुवाद भी सभव नही है, तब एक ओर सास्कृतिक परिवारो मे भिन्नता की गभीरता की ओर ध्यान गया और दूसरी ओर भाषा के स्वरूप को समझने मे भी नयी दृष्टि मिली। भाषा यद्यपि सभी सस्कृतियो मे एक ही कार्य सम्पादन करती है और वह है अभिधानीकरण द्वारा सम्वाद, किन्तु यह अभिधानीकरण शब्द नहीं करते, वाक्य भी नही करते, यह सम्पूर्ण भाषा करती है। यह प्रतिपादन कुछ रहस्यात्मक प्रतीत हो सकता है, किन्तु थोडा गभीरता से सोचने पर यह एक बहुत साधारण बात प्रतीत होगी। हमारे अधिकाश विषय और वस्तुस्थितिया देश, काल, सामान्य और विशेष से निर्मित होती है और कुछ अन्य—मानसिक—काल, सामान्य और विशेष से निर्मित होती है। हमारी सब रचनाए (भाषा, धर्म, विज्ञान आदि) इन्ही तत्वो के, और एक अन्य तत्व—अर्थ अथवा अभिनिवेश के—विभिन्न सयोजन कही जा सकती है। अभिनिवेश-भेद प्रतीक रूपो के आकार-भेद का मूल है। उदाहरणत अभिनिवेश-भेद से ध्वनि का सयोजन भाषा-रूप और सगीत-रूप दो रूपो मे हो जाता है, और विषय-अवधारण धार्मिक, पौराणिक और वैज्ञानिक आदि विभिन्न आकार लेता है। किन्तु एक ही अभिनिवेश-रूप के आधार पर हुई प्रतीक-रचना (भाषा) मे देश, काल, सामान्य और विशेष के अवधारण और सयोजन भिन्न-भिन्न प्रकार के हो सकते हैं और उनके अनुसार एक ही प्रतीक-व्यवस्था अनेक प्रकार से सरचित हो सकती है।

भाषा के सम्बन्ध मे हमने कहा कि यह अभिधानात्मक प्रतीक-रचना

है, दो भाषाए जिन वस्तु-स्थितियों का अभिधान करती है वे वस्तुस्थितिया बहुत भिन्न प्रकार से रचित हो सकती हैं। अब, भाषा मे व्यक्त वस्तुस्थितियो के रचना-भेद के अनुसार उन भाषाओ मे भेद किया जायगा। इसीलिये एक भाषा से दूसरी भाषा मे अनुवाद, विशेषत यदि वे दो अत्यन्त भिन्न प्रकार की सस्कृतियो की भाषाए है, वाक्यश नही हो सकता। इसके लिये उस सम्पूर्ण सास्कृतिक सन्दर्भ को समझना आवश्यक होता है जिसमे वह भाषा प्रयुक्त होती है, और साथ ही उस भाषा की व्याकरण-रचना के वैशिष्ट्य को समझना आवश्यक होता है।[९] व्होर ने भाषाओ मे, और भाषा द्वारा वस्तु-अवधारणो मे, इस विभिन्नता और विचित्रता पर बहुत उपयोगी अध्ययन प्रस्तुत किये है। भाषा के विश्लेषण के प्रसग मे वे बताते है कि "यह स्पष्ट था कि होपी भाषा मे बहुवचन की कोटि इगलिश, फ्रेंच तथा जर्मन से भिन्न थी। कुछ वस्तुए, जो इन भाषाओ मे बहुवचन मे थी, होपी मे एक वचन मे थी।"[१०] इसी प्रकार काल-अवधारण मे भी होपी और इडोयूरोपीय भाषाओ मे बहुत महत्वपूर्ण अन्तर है। इडोयूरोपीय भाषाए, ऐन्द्रिय विषयो के ही सस्थान पर काल की भी रचना करती है और इस प्रकार काल इनमे देश का समकक्ष हो जाता है। व्होर के ही शब्दो मे, "हमारी भाषाए वस्तुओ पर गिनी गयी सख्याओ मे तथा स्वय सख्या-क्रिया मे कोई भेद नही करती है। इसलिए हम अपने अभ्यस्त विचार से यह समझते है कि दूसरी अवस्था मे सख्या उतनी ही वस्तु-मूलक है जितनी पहली अवस्था मे। यह वस्तूकरण है। हमारी काल की अवधारणाए "पश्चाद्वर्तनता" (बिकमिंग लेटर) के विषय-गत अनुभव से सम्पर्क खो बैठती है और परिगणित मात्राओ के रूप मे वस्तु-

---

९ बजामिन ली व्होर—वही, पृ० २१६

१० मैलिनोवस्की ट्रब्रिएड द्वीपवासियो की भाषा के अध्ययन के प्रसग मे कहते हैं कि ऐसी जातियो की भाषा का अध्ययन करते हुए, जो हमारे से बहुत भिन्न परिस्थितियो मे रहती है और जिनकी सस्कृति हमारे से भिन्न है, उनके सम्पूर्ण सास्कृतिक और भौतिक परिवेश का ध्यान रखना आवश्यक है (द्रष्टव्य ब्रानिस्लाव मैलिनोवस्की—मैजिक, साईस एण्ड रिलीज्यन मे प्राब्लम आफ मीनिंग इन प्रिमिटिव लेंग्वेज, दि फ्री प्रेस ग्लैको, इलिनोइस, १९४२

कृत हो जाती है। किन्तु होपी मे भाषीय स्थिति इससे भिन्न है। बहुवचन और गणना-वाचक सख्या-पद केवल उन वस्तुओ के लिये ही प्रयुक्त हो सकते है जो दृश्य समूह बनाती है या बना सकती हैं। (इस भाषा मे) कोई कल्पना-मूलक बहुवचन नही होते, बल्कि इसके स्थान पर एक वचन के साथ क्रमवाचक सख्यापद जोडे जाते है। 'दस दिन' इस प्रकार का पद प्रयोग इन भाषा मे नही होता है। इसका पर्याय कथन क्रियात्मक प्रकार का होता है जो कि उपयुक्त क्रम से एक दिन पर पहुचता है। 'वे दस दिन ठहरे' द्वारा वर्णित स्थिति इस भाषा मे हो जाती है 'वे ग्यारहवे दिन तक ठहरे' अथवा 'वे दसवें दिन के बाद गये।'[११] इसी प्रकार से सज्ञाओ के सम्बन्ध मे भी। वे बताते है कि होपी भाषा मे द्रव्य वाचक सज्ञा नही होती, उदाहरणत इस भाषा मे 'पानी' का कोई पर्याय शब्द नही मिलेगा गिलास पानी या बाल्टी-पानी की वाचक सज्ञाए ही मिलेंगी।[१२] 'भाषाओ' मे यह भेद और भी अधिक उनके व्याकरणो मे दिखाई देता है जो उन भाषाओ के अवधारण-प्रकारो मे एक दूसरे प्रकार के मौलिक भेद का द्योतक है। उदाहरणत नूट्का भाषा के वाक्यो मे उद्देश्य और विधेय नही होते। "हमारे लगभग सभी वाक्यो मे क्रिया शब्द का कोई कर्त्ता अवश्य होता है।"[१३] वास्तव मे व्होर का मत है कि यदि इडोयूरोपीय भाषाओ मे देशकाल-अवधारण उससे भिन्न प्रकार का होता जो उनमे है तो गेलिलियो अथवा न्यूटन के वैज्ञानिक सिद्धात भी मूलत भिन्न प्रकार के होते। उनके अनुसार आईस्टाईन का सापेक्षतावादी सिद्धात भी, जिसमे कि देश-काल का अवधारण न्यूटन से बहुत भिन्न प्रकार का है, इसी कारण सभव हो सका क्योंकि इडोयूरोपीय भाषाओ के सस्थान मे उसकी सभावना विद्यमान थी। व्होर भाषा मे एक ऐसा अन्तर्निहित गणितात्मक सस्थान देखते है जो एक पूर्ण वृत्त बनाता है और जिसका कोई सूत्र उसमे निहित तार्किक योजना से अलग नहीं आ सकता। उसी के शब्दो मे "विचार भी किसी भाषा द्वारा निर्मित सरणियो मे ही प्रवाहित होता है और इस प्रकार से सत्ता के तथा बुद्धि-कौशल के कुछ विशिष्ट पक्षो पर ही व्यवस्थित रूप से दृष्टि केन्द्रित करता है, और

---

११. व्होर, वही पृ० १३९
१२. वही, पृ० १४०
१३ वही, पृ० १४१

परिणामत , व्यवस्थित रूप से अन्य पक्षो की उपेक्षा कर देता है। व्यक्ति इस व्यवस्था से पूर्णत अचेत रहता है और इसके अच्छेद्य बन्धनो मे पूर्णत बँधा रहता है।"[१४] और भिन्न-भिन्न भाषाएँ क्योकि भिन्न-भिन्न प्रकार से सस्थान-निर्माण करती है इसलिये उनके प्रयोक्ता वस्तु-सत् का भिन्न-भिन्न अवधारण करने को वाध्य हैं। भाषीय सापेक्षतावाद का इससे बढ कर स्पष्ट प्रतिपादन मिलना असभव है।

यदि व्होर की उपर्युक्त स्थापना को स्वीकार किया जाय तो इसका अर्थ होगा कि भाषा सब सास्कृतिक प्रतीक-रूपो की आधार है और वह उनकी सब सभावनाओ को पूर्व-नियत कर देती है। सभवत व्होर यह स्वीकार करने को तैयार हैं कि एक ही भाषा-सस्थान मे अनेक सभावाए निहित होती हैं और उनमे से केवल कुछ ही क्रियान्विन होती है, और अन्य प्रसुप्त रहती हैं। क्यो अ, इ सभावनाए क्रियान्वित हुई और उ, ए प्रसुप्त रही, इसका कोई कारण नही दिया जा सकता।

× × ×

भाषा को उस सम्पूर्ण मानवीय सदर्भ मे समझना आवश्यक है जो ज्ञान, मूल्य और कलाओ के विभिन्न क्षेत्रो मे अपने आपको प्रदर्शित करता है। भाषा का जन्म प्रकृति के अभियोजन के सन्दर्भ मे हुआ किन्तु तब भी यह मानव की उस सृजन-चेतना का व्यापार है जो 'विश्वयोजना' करती है। किन्तु भाषा इतने मात्र से कही अधिक आगे जाती है, जैसे मनुष्य को सभी क्रियाए जैव-प्रयोजन का अतिक्रमण करती है। सभी मानवीय अभियोजन वासना और आवेग का सन्दर्भ छोडकर रचनात्मक अर्थ के सन्दर्भ मे व्यापारित होते हैं जिसमे अभिनिवेश वासना-व्यय के बजाय व्यवस्थान और मूल्य का रूप ले लेता है। यह व्यवस्थानात्मक और मूल्यात्मक अर्थ भाषा के अतिरिक्त जादू, पुराण, विज्ञान, दर्शन, धर्म तथा कला आदि विभिन्न रूपो मे अपनी अभिव्यक्ति करता है। दूसरे शब्दो मे, भाषा व्यवस्थान का अनेक मे से केवल एक रूप है, अन्य रूप इसके समानान्तर है और पूर्णत स्वायत्त क्षेत्र है। इनकी स्वायत्तता इनके रचना-नियमो मे देखी जा सकती है। उदाहरणत भाषा की रचनात्मकता का रूप अभिधानात्मक है, 'राम जा रहा है' मे सवेदन क्षेत्र मे

---

१४ वही, पृ० २४२

से वस्तुस्थिति की विशेप प्रकार से रचना कर उसका ग्रभिधान किया गया है, और जिसका यह वाक्य ग्रभिवान करता है उसका सस्थान इस भाषा के रचना-सस्थान के रूप को व्यक्त करता है। इस प्रकार से, यह ग्रभिधान वस्तु-सत् का नही होता, वल्कि भापा द्वारा कल्पित विपयो का होता है। इसके विपरीत, विज्ञान ग्रभिधानात्मक नही हे, विज्ञान ग्रपने विषय तथ्यात्मक-प्रमाणीकरण पर ग्राधारित व्याख्या-सन्दर्भ मे ग्रहण करता है। इसीलिये मेज, कुर्सी किसी विज्ञान के "विषय" नही होते, जवकि पानी पर लकडी के तैरने का तथ्य विज्ञान का विषय होता है। यद्यपि यह ठीक है कि विज्ञान भाषा का उपयोग करता है (यद्यपि ग्रमूर्त्तीकरण के उन्नत स्तरो पर यह भाषा का भी वृत्त तोड कर शुद्ध गणित को ग्रपना वाहन बना लेता है) किन्तु इसका यह ग्रर्थ नही कि विज्ञान का रचना-सन्दर्भ वही है जो भापा का है।

ग्रब यह एक ग्रत्यन्त महत्वपूर्ण निष्कर्ष है, क्योकि यदि यह निष्कर्ष सही है तो *भाषा का सर्वतायित्व (सब को ग्राच्छादित करना) ग्रसिद्ध हो जाता* है ग्रौर व्होर के विपरीत यह कहा जा सकता है कि जितना ही भाषा का मूल-सस्थान विज्ञान को प्रभावित करता हे उतना ही विज्ञान का मूल सस्थान भाषा को प्रभावित करता है। काल की न्यूटनीय ग्रौर ग्राईस्टाइनीय परिभाषाग्रो को ले। इन दोनो मे एक मौलिक ऐक्य है जो हमारे भाषा-सस्थान मे मूलित है, किन्तु इनमे ग्रत्यन्त गभीर ग्रन्तर भी है जो हमारे भापा-सस्थान मे मूलित नही है। इस भेद को हम भाषा से उत्पन्न कैसे मान सकते है? इसे हम एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट करेंगे मान लीजिये कि ग्र प्रश्न करता है "ग गाव यहा से कितना दूर है?" ग्रब इ इसका उत्तर देता है—"दस मील", ग्रौर उ उत्तर देता है "वैसे तो गाव बारह-एक मील है किन्तु ग्राप कार पर है तो तीन-एक मील ही समझिये।" ग्रब पहले उत्तर मे देश ग्रौर काल पूरी तरह से पृथक् कल्पित है जवकि दूसरे मे ये एक ही ग्रायाम बनाते है। ग्रब यहा दो बातें देखने को है (१) कि यह प्रश्न हमारी भाषा मे इस प्रकार से किया जा सकता है यह तथ्य हमारी भाषा मे देश-काल के विशेष भाषीय ग्रभिघान के स्वरूप का द्योतक है। जैसाकि हमने पीछे देखा था, होपी भाषा मे देश-काल ग्रवधारण हमारी भाषा से भिन्न प्रकार से होता है। इसी प्रकार से ट्रॉब्रिएड द्वीपवासियो की भापा के एक वाक्य का विश्लेषण करते हुए मैलिनोवस्की कहते हैं कि इसे समझने के लिये इन "ग्रादिवासियो के भौगोलिक ग्रवधारण पर

तथा भाषीय साधन के रूप मे बिम्ब-कल्पानाम्रो आदि पर विमर्श करना आवश्यक है।"[15] किन्तु उपरोक्त दो उत्तर दो सर्वथा भिन्न प्रकार के देश-काल-निर्धारणो के द्योतक है। इनमे पहले मे अमूर्तीकरण का स्तर दूसरे की अपेक्षा उन्नत है। किन्तु क्योकि इन दोनो उत्तरो की रचना हमारी भाषा मे सभव है इसलिये इनके भेद को भाषामूलक नही कहा जा सकता। यह बात और भी स्पष्ट तब हो जाती हे जब हम विज्ञान मे उसकी अपनी व्यावहारिक आवश्यकताम्रो के कारण, अथवा दार्शनिक दृष्टिकोण के आधार पर हुए देश-काल विषयक अवधारण मे परिवर्तन को देखते हं। 'गाव दस मील दूर है' वाक्य मे व्यक्त देश-काल को अवधारणा भारतीय और पश्चिमी विज्ञानो मे लगभग आरम्भ से लेकर बीसवी शताब्दी के आरम्भ तक हमे मिलती है, किन्तु १९०५ मे आईस्टाईन के सापेक्षतावाद के प्रतिपादन के पश्चात् 'कार मे जाये तो तीन-एक मील ही है' मे व्यक्त अवधारणा का विकास हुआ। विज्ञान मे यह अवधारणा-परिवर्तन इसलिये नही हुआ कि हमारी भाषा मे इसकी सम्भावना विद्यमान थी, बल्कि इसलिये हुआ कि पहली अवधारणा "नये वैज्ञानिक तथ्यो" की व्याख्या नही कर सकी। यह इस बात से और भी स्पष्ट है कि जबकि दूसरे उत्तर मे अमूर्तीकरण का स्तर निम्नतर है, सापेक्षतावाद मे यह न्यूटनीय निरपेक्षतावाद से उन्नततर हे। यह बात और भी स्पष्ट रूप से देश-काल विषयक दार्शनिक सिद्धान्तो मे देखी जा सकती है। इनमे से अनेक सिद्धान्तो मे कल्पित देश-काल को हमारी भाषा के रचना-सस्थान मे नहीं देखा जा सकता। बर्गसा इसका एक उदाहरण हे और बौद्ध दर्शन दूसरा। तब भी व्होर का यह प्रतिपादन एक सीमा तक ठीक है कि भाषा के विशेष रचना-सस्थान के कारण हमारा वैज्ञानिक और दार्शनिक चिन्तन गम्भीर रूप से प्रभावित हुआ, जो स्वाभाविक है। दूसरी ओर, काव्य मे भाषा अपना अभिधानात्मक व्यापार छोडकर ही स्वीकृति पाती है और अभिधार्थ लक्ष्यार्थ और व्यग्यार्थ को स्थान देता है।

कुछ पुराविदो ने पुराण को असभ्यो की कपोल-कल्पनाए मानते हुए उनका स्रोत भाषा को माना है। मैक्समूलर के अनुसार, "पुराण का विवेचन वास्तव मे मनोवैज्ञानिक विवेचन पर आधारित है, और क्योकि हमारा मानस

---

१५ वही–पृ० २५६

भाषा के माध्यम से विषयाकार ग्रहण करता है, इसलिये अन्तत यह भाषा-विवेचन का प्रश्न हो जाता है। यही कारण है कि मैं पुराण को विचार के बजाय भाषा का एक रोग कहता हू। प्राचीन भाषा का प्रयोग अत्यन्त दुस्साध्य है, विशेषत अमूर्त धार्मिक प्रयोगो मे प्रत्ययो को व्यक्त करना असम्भव है, ये केवल रूपको द्वारा ही व्यक्त किये जा सकते हैं, और यह कहना अत्युक्तिपूर्ण नही होगा कि प्राचीन भाषा के शब्दकोश मुख्यत रूपको से भरे है ' और यही निरन्तर भ्रान्तियो का अजस्र स्रोत है।"[१६] यह देखना अधिक कठिन नही है कि यह दृष्टिकोण न भाषा के सम्बन्ध मे सही है और न पुराण के सम्बन्ध मे ही। यदि अमूर्त प्रत्ययो को भाषा के माध्यम मे व्यक्त करना असम्भव है तब स्पष्ट है कि इनका स्रोत भाषा नही हो सकती। इसका अर्थ है कि इन अमूर्त प्रत्ययो को व्यवस्था एक स्वतन्त्र व्यवस्था है जो भाषा के बाहर जन्म लेती है। यदि ऐसा है तब पुराण भाषागत रूपको मे भ्रमित कैसे होता है? वह भी इतना भ्रमित कि सारी पौराणिक व्यवस्था ही उस भ्रम और रोग से ग्रस्त हो जाय? पौराणिको के वे कौन से अमूर्त प्रत्यय हैं जो भाषा मे रूपकात्मक हो जाते हैं? क्या हम भाषा-जनित विकार हटाकर उनके शुद्ध रूप को प्राप्त कर सकते हैं, जैसे मनो-चिकित्सक मानसिक अवरोध (इन्हिबिशस्) हटाकर वास्तव प्रयोजन को चेतन मे ला देता है? हमारे विचार म ऐसे कोई अमूर्त प्रत्यय नही है जो भाषा मे गलत मूर्ति पाकर पौराणिक भ्रम को जन्म देते हैं, यह हम पुराण-विषक अध्याय मे देखेंगे। किन्तु मैक्समूलर की भ्रान्त स्थापना एक उपयोगी दिशा की ओर निर्देश करती है और वह है भाषा की अमूर्त्तीकरण की एक सीमा से आगे जा सकने की असमर्थता, यह हमें विज्ञान, दर्शन, धर्म और कला मे निरन्तर अनुभव होती है। विज्ञान इसीलिये अन्तत भाषा का अतिक्रमण कर गणित का आश्रय लेता है। धर्म भाषा को असमर्थ पाकर मन्त्र और उलटबासियो आदि के उपायो का आश्रयण करता है, जहा भाषा सर्वथा नवीन क्षेत्र मे प्रवेश करती है। भाषा का यह प्रयोग सिद्ध करता है कि धर्म का अपना प्रतीक-संस्थान भाषा से कितना स्वतन्त्र और समर्थ होता है कि यह अपने उपयोग के लिए भाषा को एक ऐसा आयाम दे देता है जो उसके मूल रूप से उतना ही दूर और विलक्षण है जितना गणित, विशेषत

---

१६ वही, पृ २५६

विज्ञान मे प्रयुक्त गणित। दर्शन यद्यपि भाषा का अधिक अतिक्रमण नही करता किन्तु तब भी वह अनिर्वचनीय, अतिक्रामी आदि कोटियो का आश्रय लेता है, जहा उसके पाठक की भाषा की असमर्थता मे सकेत लेना पडता है।

४

पौराणिकता

"पौराणिकता" की एक ऐसी व्यापक परिभाषा, जो इस मनोवृत्ति[1] के सब रूपो का आकलन कर सके, बहुत कठिन है। सब व्यक्तियो और समाजो मे यह मनोवृत्ति न्यूनाधिक मात्रा मे विद्यमान देखी जा सकती है। किन्तु इसके इस व्यापक अर्थ पर हम केवल इस अध्याय के अन्त मे सक्षेप से विचार करेंगे। यहा मुख्यरूप से हमारा प्रयोजन आदिम-मानव की मनोवृत्ति के स्वरूप पर विचार करना है।

किन्तु "आदिम मनोवृत्ति" कहने मे यह धारणा पूर्व निहित हो जाती है कि आदिम मानव की अवधारणा-कोटिया (कासेप्चुअल कैटेगरीज) "सभ्य" मानव से मूलत भिन्न प्रकार की है। किन्तु हमारा ऐसा कोई अभिप्राय नही है। जैसाकि हमने पीछे कहा, मानव की मनोवृत्तियो के अनेक आयाम है, पौराणिकता इनमे से एक है। आदिम मानव मे यह आयाम प्रमुख रूप से विद्यमान मिलता है, किन्तु गौण रूप से उसमे आनुभविक अवधारणा और तार्किक अवधारणा की कोटिया भी स्पष्टत हैं। सभवत यह कहना उचित होगा कि उसमे धार्मिक अवधारणा की कोटि का अभी विकास नही हुआ रहता।[2] किन्तु यह कोटि

---

१ 'मनोवृत्ति' से यहा हमारा अभिप्राय है जगत् (फिनोमिना) के अवधारणा का प्रकार।

२ नृतत्वशास्त्री और समाजशास्त्री पौराणिकता और धर्म मे कोई अन्तर नही देखते, किन्तु हमारे विचार मे ये मूलत भिन्न आयाम हैं। इसलिये हमने धर्म पर पृथक् विचार किया है और वहा पौराणिकता से इसकी पृथक्ता दिखाई है। द्रष्टव्य आगे अध्याय ७।

भी पौराणिकता की प्रमुखता के युग मे ही पीछे विकसित हो गयी थी, यह ऐतिहासिक खोजो से प्रमाणित है। वैबीलोन, मिश्र, भारत और ग्रीस के आदि-कालो मे यह स्पष्टत. देखा जा सकता है।

इस आदिम अर्थ मे पौराणिक मनोवृत्ति को "अप्राकृतिक शक्तियो, व्यक्तियो और तत्वो मे विश्वास" कहा जा सकता है। यहा यह द्रष्टव्य है कि इस परिभाषा मे 'अप्राकृतिक' शब्द का प्रयोग एक अन्य मनोवृत्ति, कहे आनुभविक-तार्किक मनोवृत्ति, की पूर्वधारणाओ का द्योतक है। वास्तव मे पौराणिक मनोवृत्ति सम्बन्धी अधिकाश नृतत्ववैज्ञानिक सिद्धात इन वाहरी कसौटियो के आधार पर ही निर्मित है, जैसाकि हम अभी देखेंगे। किन्तु यदि इस सीमा का ध्यान रखा जाय तो ऊपर की परिभापा को तात्कालिक प्रयोजन के लिये स्वीकार किया जा सकता है। यह ध्यान रखने पर 'अप्राकृतिक' शब्द 'काल्पनिक' अथवा 'मूढतामूलक' का पर्याय नही होकर स्वय उस कोटि की वस्तु का वाचक होगा जो आनुभविक-तार्किक कोटि मे अन्य किसी शब्द द्वारा व्यक्त नही की जा सकती। कुछ नृतत्ववैज्ञानिको ने पौराणिक मनोवृत्ति को इसी रूप मे देखा है। उदाहरणत जेम्स फ्रेजर के अनुसार जादू और विज्ञान मे इनकी पूर्व-प्रतिज्ञाओ के अतिरिक्त कोई मौलिक अन्तर नही है। वे कहते हैं

"जब कभी सहानुभूतिक जादू (सिम्पेथेटिक मैजिक) अपने विशुद्ध और अमिश्र रूप मे घटित होता है तब इसमे यह धारणा निहित रहती है कि एक घटना दूसरी का अनिवार्यत अनुसरण करती है और इसमे कोई अप्राकृतिक (स्पिरिचुअल) या मानसिक (पर्सनल) कारक हस्तक्षेप नही करता। इस प्रकार से इसकी आधारभूत अवधारणा आधुनिक विज्ञान की अवधारणा से अभिन्न है, इसकी सम्पूर्ण व्यवस्था के मूल मे एक विश्वास अन्तर्निहित रहता है, जो यद्यपि अव्यक्त रहता है किन्तु जो वास्तव और दृढ होता है, कि प्रकृति मे नियम और एकरूपता है। जादूगर को इसमे कोई सन्देह नही होता कि समान कारण समान कार्य उत्पन्न करता है, उपयुक्त सम्मोहन (स्पैल) के साथ उपयुक्त आयोजन का सम्पादन अनिवार्यत अपेक्षित परिणामो को ही फलीभूत करेगा। इस प्रकार से, विश्व की जादुई और वैज्ञानिक अवधारणाओ मे वहुत अनुरूपता है। इन दोनो मे ही घटनाओ का अनुक्रम पूर्णत नियमित तथा निश्चित होता है और अपरिवर्तनीय नियमो द्वारा नियत होता है। इन

नियमो का क्रिया-व्यापार (ऑपरेशन) पहले से देखा और जाना जा सकता है। अनियमितता और आकस्मिकता के तत्व इसमे पूर्णत. बहिष्कृत रहते हैं जादू का घातक दोष नियम शासित घटनाओ के अनुक्रम की सामान्य धारणा मे नही है, बल्कि उन विशेष नियमो के स्वरूप की पूर्णत. भ्रात धारणा मे है जोकि इस अनुक्रम का निर्धारण करते हैं। जादू-टोने मे विश्वास विचार के दो महान् मूल नियमो मे से एक या दूसरे भ्रात व्यवहार का परिणाम है, वे है . विचारो का समता के आधार पर सयोजन तथा देश और काल मे निकटता के आधार पर सयोजन .. सयोजन के सिद्धात स्वत अत्युत्तम है और वास्तव मे मानव-मन के व्यापार के लिये अत्यन्त आवश्यक हैं। उचित रूप मे इन्हे व्यवहार मे लाने पर ये विज्ञान को सभव करते है, और अनुचित रूप से व्यवहृत होने पर ये जादू को सभव करते हैं।"[3]

फ्रेजर एक मनो-विकासवादी नृतत्वशास्त्री था, जिसके अनुसार जादू, धर्म और विज्ञान एक विकासात्मक प्रक्रिया की कडिया हैं। उसके अनुसार, पहले मनुष्य के पास वैज्ञानिक ज्ञान नही था और वह प्राकृतिक शक्तियो की व्याख्या, विनियोजन और अनुमान के लिए जादू पर आश्रित था। समय बीतने के साथ जादूगर विशेषज्ञ हो गये और अपने समुदाय के लिये सस्कारादि कराने वाले बने। अब, इनकी शक्तियो की व्याख्या के लिए सामान्य लोगो ने इनमे अतिप्राकृतिक शक्तियो का आरोपण किया और उनके मरने पर उनकी आत्माओ को देवताओ के रूप मे पूजा करने लगे। इस लोक मे जादूगर दिव्य राजा हो गये और क्रमश वे पुजारी बने, आदि —। अपनी इस प्राक्कल्पना को सिद्ध करने के लिए उन्होने तथा अन्य विकासवादी नृतत्व-शास्त्रियो (टेलर, लैंग, मैरेट आदि) ने अत्यन्त महत्वपूर्ण ऐतिहासिक विवरण प्रस्तुत किये है, किन्तु ये विवरण, उपयुक्त या अनुपयुक्त, पौराणिक मनोवृत्ति के स्वरूप की उचित व्याख्या नही करते। ये सिद्धात डार्विन की जैव तत्व की विकासवादी व्याख्या से प्रभावित थे, किन्तु मनोवृत्ति के परिवर्तन को जैव परिवर्तन की अनुरूपता मे देखने का औचित्य अत्यन्त सन्देहास्पद है।

फ्रेजर और अन्य विकासवादियो से एकदम उलट लेवी ब्रूहल का

---

३ सर जेम्स फ्रेजर—दि गोल्डन बफ, भाग १ दि मेजिक, आर्ट एण्ड दि एवोल्यूशन आफ किंग्स, पृ० २२०

मत है। वे आदिम और सभ्य मनोवृत्तियो मे पूर्ण व्यवच्छेद देखते है। उनके अनुसार "आदिम मनोवृत्ति तथा सभ्य मनोवृत्ति मे कोई समता या तारतम्य देखना निरर्थक है। ये एक जाति को है ही नही। आदिम मन मे तर्क और युक्ति की वे प्रक्रियाए पूर्णत अनुपस्थित है जो टेलर और फ्रेजर इनमे देखते है। यह मनोवृत्ति तर्क-परक न होकर 'प्राक्-तार्किक' अथवा रहस्यात्मक है। यह हमारे तर्क के अत्यन्त प्राथमिक सिद्धातो से भी वचित है। असभ्य मानव अपने एक पृथक् ससार मे रहता है—ऐसा ससार जो हमारे लिए पूर्णत अगम्य है।"[४]

ब्रूहल का यह प्रतिपादन एक दृष्टि से बहुत अनुचित प्रतीत होता है, क्योकि मानव मे अत्यन्त आदिम स्तर पर भी हम ससार के आनुभविक-तार्किक विनियोग के लक्षण देखते है। उसे हम अत्यन्त आरम्भिक अवस्थाओ मे प्राकृतिक पदार्थो से उपकरण बनाते हुए, रोगो का उपचार करते हुए तथा ऋतु-परिवर्तनो का ध्यान रख कर अपनी यात्राओ और कृषि की योजना करते हुए, पाते है। कुछ अवस्थाओ मे तो ज्यामिति और गणित तथा खगोल-विज्ञान के आरम्भिक सिद्धान्त भी उनमे दृष्टिगत होते है। किन्तु तब भी ब्रूहल पूर्णत गलत नही हैं, क्योकि जैसाकि हम आगे देखेंगे, "पौराणिक मनोवृत्ति" "वैज्ञानिक मनोवृत्ति" से भिन्न है, एक प्रकार से विपरीत है, कहना चाहिए, इनमे सरचनात्मक अन्तर है, यद्यपि उसे प्राक्-तार्किक कहना शायद उचित नही है। ब्रूहल की गलती केवल यह है कि वह आदिम मानव मे केवल पौराणिक मनोवृत्ति ही देखता है, अन्य मनोवृत्तिया नही देखता है।

फ्रेजर और ब्रूहल के मत दो विरोधी छोरो पर हैं, इन दो के बीच अन्य अनेक मत हैं जिनकी हम यहा चर्चा नही करेंगे और आगे अपने विवेचन-प्रसग मे यत्र-तत्र उनका उल्लेख करेंगे। ये मत आदिम मनोवृत्ति की उसके भीतर से परीक्षा करते कहे जा सकते है, क्योकि ये उस मनोवृत्ति को यथावत् स्वीकार कर उसका स्वरूप-विवेचन करते हैं। दो अन्य व्याख्या-वर्ग हैं जिन्हे बाहरी आलोचक कहा जा सकता है। एक वर्ग मनोविश्लेषको का है जो इस मनोवृत्ति को सावेगिक समस्याओ की ऐसी उपचार-व्यवस्था के रूप मे

---

४ लेवी ब्रूहल–हाऊ नेटिव्ज थिंक, प्रवेश।

देखता है, जिसे मन का अवचेतन-स्तर बाह्य परिवेश के साथ अनुकूलन और सामञ्जस्य के लिए सरचित करता है। फ्रायड और युग इस सम्प्रदाय के दो प्रमुख प्रस्तावक है। दूसरा सम्प्रदाय प्रकार्यवादियो का है जिसके प्रवर्तक दुर्खीम, मैक्स वेबर और ताल्कत पार्सन्स् है। इसके अनुसार धार्मिक-सस्थाए (जादू, टोटेम, कल्ट, सस्कार आदि) समाज के कुछ केन्द्रीय मूल्यो की प्रतीक होती हैं, जिनका कि आत्मसात्करण (इन्टर्नलाइजेशन) समाज के विभिन्न अगो के उचित सगठन के लिये आवश्यक होता है।

इन मतो को हम 'बाह्यालोचक' इसलिये कहते है क्योकि ये बाह्य प्रयोजनो के प्रसग से इस मनोवृत्ति को समझने का प्रयत्न करते हैं। ये दो व्याख्या-सन्दर्भ कितने भी उचित क्यो न हो, ये इस मनोवृत्ति के स्वरूप को समझाने मे असमर्थ है। इनमे एक मूल भ्रामकता भी निहित है ये एक अत्यन्त साधारणीकृत सरचना मे इसको जँचाने का प्रयत्न करते हैं, फिर चाहे इसका अगभग ही हो जाय। उदाहरणत मनोविश्लेषक पौराणिकता को (धार्मिकता को भी) एक रोग-लक्षण (सिम्पटम) के रूप मे देखते हैं जो अन्तर्मन की समाज-विरोधी मागो तथा सामाजिक यथार्थ के बीच तथा/अथवा अन्तर्मन की प्रेरणाओ और आनुभविक-तार्किक यथार्थ के बीच सामजस्य-विधान के प्रयत्न का द्योतक है। इसके अतिरिक्त, पितृ-ग्रथि आदि इनकी विशिष्ट प्राक्कल्पनाए अत्यन्त विवादास्पद और अप्रमाणीय हैं। यह सिद्धात अपने मूलरूप मे भी अनुचित प्रतीत होता है, क्योकि यह उतना ही दात से नाखून काटने और बात करते हुए सिर खुजलाने के ऊपर भी लागू होता है जितना, और जैसा, पौराणिकता पर। प्रकार्यवादी मत इस प्रकार से अनुपयुक्त नही है, किन्तु कोई सस्थाए कोई कार्य सम्पादित करती हैं, कोई प्रजोजन सिद्ध करती हैं, इसका अर्थ यह नही कि ये इस प्रयोजन के कारण अस्तित्व मे आई। यह सिद्धात यदि एक सीमा तक विकसित धार्मिक सस्थाओ के सम्बन्ध मे सही भी हो, पौराणिक मनोवृत्ति के सम्बन्ध मे यह बिल्कुल सही नही है, क्योकि पौराणिक मनोवृत्ति एक सम्पूर्ण विश्व-दृष्टि है। एक सम्पूर्ण विश्व-दृष्टि कुछ प्रयोजन सिद्ध करने के लिए अस्तित्व मे नही आती। यह प्रयोजनो की आधार बनती है, प्रयोजन इसमे उत्पन्न होते हैं।

× × ×

पौराणिकता को हमने सम्पूर्ण विश्व-दृष्टि कहा। इसे 'विश्व-दृष्टि'

कहने का अर्थ है कि यह वस्तु-सत् के अवधारण का एक प्रकार है, अथवा कहे, यह एक विधा है जिसके चाक पर गोचरताए विपयाकार ग्रहण करती है। अवधारणात्मक विधा अथवा विश्व-दृष्टि होने के कारण यह एक सैद्धांतिक सस्थान बनाती है, इसमे एक व्यवस्थात्मक एकत्व है जो वहुत्व का विनियोग करता है और जिसके सामान्यो मे निरूपित होकर विशिष्ट सज्ञापित होते हैं। इस दृष्टि से यह विज्ञान और धर्म का समकक्ष है।[५]

सज्ञान मात्र की यह विशेषता है कि यह अर्थमूलक होता है, इसलिए यह कभी निष्क्रिय ग्रहण नही होता। किन्तु मानवीय सज्ञान एक बात मे पाशव सज्ञान से (जिस रूप मे'हम उसे समझते हैं) विशेप है, इसका अर्थ अत्यन्त सरचित प्रकार का और सर्वसग्राहक होता है, यह व्याख्यात्मक सन्दर्भ मे विपय-ग्रहण करता है। इसलिए इसके विपय केवल तात्कालिक प्रयोजन से निर्धारित नही होकर एक जटिल व्यवस्था की अनिवार्यता से उत्कीर्ण होते है। हमारे सरल मे सरलतम निर्णय भी देश, काल, कारणता, अह, इतर, जीव, जड आदि की विभिन्न कोटियो मे सरचित होते हैं। ये कोटिया हमे इतने सहज रूप मे प्रदत्त होती हैं कि इनमे हमे सामान्यत कभी सन्देह नही होता, हम इन्हे सत्ता की ही कोटियाँ मानते हैं। यह स्वाभाविक है, क्योकि ये कोटिया अनुभव की विषय नही होकर विषय की पूर्वापेक्षाए हैं, विषय की सम्भावना के लिए आवश्यक है कि वह इन कोटियो मे सरचित होकर प्रस्तुत हो। इसलिए जब कभी हम ऐसी अवधारणात्मक योजना के सम्पर्क मे आतें है जिनमे इन कोटियो का रूप हमारी कोटियो से भिन्न प्रकार का होता है तब हम उस योजना को एक भ्रम अथवा विक्षिप्तता का परिणाम समझते हैं। पौराणिकता के सम्बन्ध मे सामान्यत हमारी यही प्रतिक्रिया होती है, क्योकि इसको अवधारण की कोटिया हमारी कोटियो से इतनी भिन्न प्रकार की है कि हम उनको गम्भीर प्रयत्न के बिना और अपनी कोटियो से बाहर आए बिना समझ ही नही सकते, उनका हमारे लिए भ्रम प्रतीत होना स्वाभाविक है। यही वास्तव मे आधुनिक विज्ञान मे रूपान्तरित हमारी अवधारण-कोटियो के सम्बन्ध मे भी कहा जा सकता है। आज विज्ञान का व्यापक आतक होने के कारण हम उनमे अवधारित अत्यन्त विचित्र कोटियो को भी सत्य की कोटिया

---

५ यशदेव शल्य—ज्ञान और सत् अ ३, ५, ८ (राजकमल, दिल्ली)।

मान लेते है और उसके पक्ष मे अपनी अवधारणा-कोटियो को छोडने को तैयार हो जाते हैं, किन्तु उचित ज्ञानमीमासा के लिए ये दोनो कोटि-क्रम समतुल्य है।

किन्तु जिन्होने पुराण को इस परिप्रेक्ष्य मे नही देखा वे इससे अत्यन्त विस्मित और चकित होते रहे हैं। उनके पास केवल दो ही रास्ते इस अवधारणात्मक योजना को समझने के लिए थे, एक इसे विमूढता कह कर इसका तिरस्कार कर देना और दूसरा रूपकात्मक मानकर इसकी धार्मिक, दार्शनिक या अन्यान्य व्याख्याए करना। पश्चिम मे सोफिस्टो तथा मध्ययुगीन धर्म-दार्शनिको ने पुराणो को रूपकात्मक मान कर ही इनकी व्याख्या की। रिनेसा काल तक पश्चिम मे यही दृष्टिकोण पौराणिकता के प्रति रहा। हमारे देश मे भी पुराणो की व्याख्या आर्य समाज, ब्रह्म समाज आदि के समय तक रूपकात्मक दृष्टि से ही होती रही है। वास्तव मे हमारे यहा जो पुराण उपलब्ध होते है वे पुराणो के रूपकात्मक आख्यान ही उपलब्ध होते हैं। किन्तु वास्तव मे पुराण और रूपकात्मकता मे परस्पर पूर्ण प्रतीपता है, जो रूपकात्मक है वह पुराण नहीं है। उदाहरण के लिए, ऋग्वेद के पुरुष सूक्त का यह मन्त्र लें—"ईश्वर के मुँह से ब्राह्मण, भुजाओ से क्षत्रिय, जानुओ से वैश्य, और पैरो से शूद्र उत्पन्न हुए।" अब यदि यह मन्त्र रूपक मात्र है तब यह पुराण नही है, किन्तु यदि कोई सचमुच यह समझता है कि विभिन्न वर्णो की उत्पत्ति ठीक इसी प्रकार से हुई, तब यह पौराणिक कथन है। उदाहरण के लिए, इसके समकक्ष उत्पत्ति सम्बन्धी एक कहानी देखे जिसका मैलिनोवस्की ने उल्लेख किया है। मैलीनोवस्की के अनुसार, ट्रॉब्रिएड द्वीपवासियो मे "स्तर की समस्या, जोकि उनके समाज मे एक महत्वपूर्ण समस्या है, एक विशेष बिल मे से उद्‌भव की कथा द्वारा तय की गई। यह बिल, जिसका नाम ओबुकुला है, लवाई गाव के निकट हैं। इस प्रकार के अन्य उद्‌भवो से इस की यह विशेषता थी कि जबकि अन्यथा एक बिल से एक वश की उत्पत्ति हुई, लवाई के इस बिल मे से एक के बाद दूसरे चार वशो के आदि-पूर्वज उत्पन्न हुए। उनके आविर्भाव के बाद, (पौराणिक दृष्टि से) एक अत्यन्त महत्वपूर्ण घटना घटित हुई। पहले केलवसी (एक छिपकला) बाहर निकला जोकि लुकुलाबुटा गोत्र का पूर्वज था। उसके शीघ्र बाद कुत्ता आया, जोकि लुकुबा गोत्र का पूर्वज था, जोकि पहले

सबसे उच्च स्तर पर था। तीसरा सूअर निकला जो मलासी गोत्र का पूर्वज था, जोकि इस समय स्तर मे सबसे ऊपर है। अन्त मे लुक्वासिसिगा (साप या मगर) निकला। सूअर और कुत्ता इधर-उधर दौडे, और कुत्ते ने नोकू पौधे के फल देखकर उन्हे सूघा और फिर खा लिया। इस पर सूअर ने कहा-तुमने नोकू खाया है, तुमने मल खाया है, तुम निम्नस्तर के हुए, एक साधारण जन, मुखिया-गुमायु-मै होऊँगा। और उसके बाद से मलासी गोत्र के उपगोत्रीय टावलू लोग मुखिया होते हैं।"[६] उपर्युक्त आख्यान ट्रोब्रिएड के आदिवासियो के लिए कहानी नही है, रूपक भी नही है, यह उनके लिए वास्तविकता है, वे इसमे उसी प्रकार से विश्वास करते है जिस प्रकार से हम किसी भी ऐतिहासिक घटना मे करते है। मैलिनोवस्की के ही शब्दो मे "जिस रूप मे आदिम समुदायो मे पुराण का अस्तित्व है, अर्थात् अपने जीवित आदिम रूप मे, उस रूप में यह कथा मात्र नही है बल्कि जीया गया यथार्थ हे। जीवित रूप मे देखने पर यह रूपकात्मक नही है वल्कि यह अपनी विषय-वस्तु की अपरोक्ष अभिव्यक्ति है। आदिम सस्कृति मे पुराण एक अपरिहार्य प्रयोजन को सिद्ध करता है, यह विश्वासो को व्यक्त करता है तथा उन्हे सर्वाद्धित और निर्यमित करता है ।"[७]

मैलीनोवस्की ने अपने उक्त प्रतिपादन के समर्थन मे ट्रोब्रिएड द्वीपो मे अपने अनुभवो के आधार पर अत्यन्त महत्वपूर्ण विवरण प्रस्तुत किए हैं। वास्तव मे मैलिनोवस्की के ये विचार आधुनिक नृतत्व-शास्त्रियो के प्रतिनिधि विचार कहे जा सकते है। ये वैज्ञानिक लोग पौराणिकता को न तो प्रतीकात्मक (रूपकात्मक) कथाए मानते है और न विमूढताजन्य मनोवृत्ति। किन्तु पौराणिक विश्वासो को आदिम जीवन का अनिवार्य, अथवा उपयोगी भी, अग कहना मात्र इसके एक विमूढता-जन्य मनोवृत्ति अथवा दृष्टि कहने के विरुद्ध तर्क नही कहा जा सकता, क्योकि उनके अपने ही दिये उदाहरणो के अनुसार ये विश्वास इसलिए आदिमो के लिए उपयोगी कहे जा सकते है क्योकि वे लोग विमूढता की स्थिति मे हैं। उदाहरणत टोटेमिक विश्वास सामाजिक सामुदायीकरण मे सहायक होते हैं, किन्तु, कहा जा सकता है कि, वह केवल

---

६ ब्रानिस्लाव मैलिनोवस्की मैजिक, साइस एड रिलीज्यन, पृ ६०
७ वही, पृ ७६

इसलिए क्योकि आदिम व्यक्ति यह समझ सकने मे असमर्थ है कि मानव, पशु, पौधे और जड वस्तुए एक ही कोटि मे नही रखी जा सकती और इस प्रकार से वह अपने वश या समुदाय का तादात्म्य किसी प्राणी-जाति अथवा वनस्पति अथवा किसी पदार्थ के साथ कर देता है। उदाहरणत. "आस्ट्रेलिया के आदिवासी विश्वास करते है कि गर्भ-धारण का सम्बन्ध कुछ विशिष्ट स्थानो के साथ है जिनमे कि पूर्वजो की आत्माए निवास करती है। जब कोई स्त्री इन स्थानो पर जाती है तब किसी पूर्वज की आत्मा उसके शरीर मे पुनर्जन्म के लिए प्रवेश करती है।"[८]

अब, इस आदिम विश्वास को किसी भी प्रकार वैज्ञानिक विश्व-दृष्टि के साथ सगत नही बैठाया जा सकता और परिणामत. (उस दृष्टि के अनुसार) इसका भ्रामक और विमूढता-जन्य होना सिद्ध है। यदि नृतत्ववैज्ञानिक इन विश्वासो को आदिमो के लिए उपयोगी पाते है तब यह उपयोगिता की कल्पना भी वैज्ञानिक का सन्दर्भ है, पौराणिक का सन्दर्भ नही। पौराणिक उनकी सत्यता मे विश्वास करता है, इनको उपयोगिता के कारण इन्हे प्रचलित नही करता।

× × ×

पौराणिक अवधारणा के मूल्याङ्कन से पूर्व इसके विशिष्ट स्वरूप पर विचार करना उपयुक्त होगा। यहा हम पौराणिक अवधारणा मे बाह्य विषय, कारणता तथा अह-बोध के स्वरूपो पर सक्षेप से विचार करेंगे :

हमारे बाह्य विषयो के अवधारण मे तीन प्रत्यय मौलिक है—(१) अद्वितीयता, (२) देश-कालिक-अविच्छिन्नता और (३) निरन्तरता। अद्वितीयता का अर्थ है कि यदि व्यक्ति य राम है तो वह श्याम नही हो सकता, यदि 'राम' और 'श्याम' एक ही व्यक्ति के नाम नही है तो। इसी प्रकार, यदि य राम है तो उसका कोई अ ग राम नही है।

देश-कालिक अविच्छिन्नता का अर्थ है कि यदि य देश-काल $द_1$ पर है तो वह $द_2$ पर नही हो सकता। निरतरता का अर्थ है कि यदि य काल $क_1$ $द_1$ पर है, और यदि वह वहा से उठा कर ले जाया नही गया, तो वह काल

८. द्रष्टव्य स्पेन्सर तथा गिलिना : दि नेटिव ट्राइब्स ऑफ सेंट्रल आस्ट्रेलिया, पृ २६५

$क_2$ पर भी वही होगा। तथा यदि य देश-काल $द_1$ से देश-काल $द_2$ पर स्थानान्तरित हुआ है तो $द_1$ तथा $द_2$ के बीच निरन्तर-क्रम सम्बन्ध है।

ये तीन प्रत्यय बाह्य विषयो के हमारे अवधारण मे इतने आधारभूत हैं कि इनमे से एक का भी निरास हमारे विषय-अवधारण के स्वरूप को पूर्णत परिवर्तित कर देगा। पौराणिक विषय-अवधारणा मे इन तीनो प्रत्ययो के लिए कोई स्थान नही है।

अद्वितीयता का उल्लघन पौराणिक विषय-अवधारण मे तीन प्रकार से देखा जाता है—(१) पौराणिक के लिए व्यक्ति, उसके नाम, उसकी प्रतिमा अथवा उसके किसी अ श मे स्पष्ट अन्तर नही है। यह शब्द-जादू, नाम-जादू तथा प्रतिमा-जादू आदि के प्रयोगो मे स्पष्टत देखा जा सकता है। किसी के नाम का टोना कर देने पर उस व्यक्ति को हानि पहुँचाई जा सकती है। इसी प्रकार, पौराणिक के लिए किसी मनुष्य का चित्र उसका दूसरा व्यक्तित्व है—जो उस चित्र के साथ घटित होता है वही उस व्यक्ति के साथ घटित होता है। विषय की यह धारणा प्रतिमा-जादू मे देखी जा सकती है। वास्तव मे इसीलिए आदिम लोग अपनी फोटो किसी को नहीं लेने देते, क्योंकि उनके अनुसार, उनका चित्र अपने वश मे करने के द्वारा उन्हे भी वश मे कर लिया जायगा और यथारुचि उनसे व्यवहार किया जासकेगा।[६] नाम और उसके धारक मे एकरूपता अत्यन्त व्यापक पौराणिक अवधारणा है। हिन्दुओ मे अभी तक पत्नी पति का नाम नही लेती, जिसके पीछे यही धारणा है कि यदि कही पति का नाम किसी शत्रु को ज्ञात हो गया तो वह उसका दुरुपयोग कर उसके पति को हानि पहुचा सकता है। धर्म मे नाम के जप का माहात्म्य और मत्र-सिद्धि आदि भी इसी धारणा के अवशेष हैं। वेद-पाठी के लिए तो ध्वनि-स्वर का पूर्ण शुद्ध उच्चारण प्राचीन शिक्षा का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण अ ग था,

---

६ "एक प्रतिमा, विशेषत- यदि वह चित्र या मूर्ति है और इस प्रकार से व्यक्ति के रूप के अधिक निकट है तो, उसे जीवित व्यक्ति का ही दूसरा व्यक्तित्व समझा जाता है—उसकी आत्मा का निवास-स्थान, बल्कि स्वय वह व्यक्ति ही। असख्य लोग मृतो की प्रतिमाए बनाते है, स्पष्टत मृतो को अपने बीच मे रखने के लिये।" जे एन डी ग्रूट—दि रिलिज्यस सिस्टम्स ऑफ चाइना, जिल्द ४, पृ ३४०

क्योकि अशुद्ध उच्चारण से न केवल देवता की हानि हो सकती थी बल्कि हवि भी उस तक नही पहुच पाती थी।

(२) अद्वितीयता का दूसरा उल्लघन विषय के पूर्ण रूपान्तरण मे देखा जा सकता है। हमारे विषय क्रमश परिवर्तित होते है, इसके विपरीत पौराणिकता मे परिवर्तन की अवधारणा के लिए कोई स्थान नही है, उसके विषय कोई भी रूप क्षण भर मे ही धारण कर सकते है—मनुष्य पशु, पक्षी, कृमि, और यहा तक कि पेड अथवा पत्थर तक, बन सकता है।

(३) तीसरा उल्लघन विषय के अन्य किसी भी विषय के साथ अभेद-स्थापना के रूप मे होता है। यह मुख्य रूप से टोटेम विषयक विश्वासो मे देखा जा सकता है। उदाहरणत आस्ट्रेलिया के आदिवासियो मे "ट्जुरुगा (लकडी अथवा पत्थर की ऐसी वस्तु जिसमे कि टोटेमिक पूर्वज ने अपने आपको रूपान्तरित कर लिया है) उस पूर्वज का शरीर मानी जाती है। पितामह अपने पौत्र को इन शब्दो के साथ ट्जुरुगा दिखाता है यह तुम्हारा शरीर है, यह तुम्हारी ही दूसरी आत्मा है। यदि तुम इस ट्जुरुगा को कही अन्यत्र ले जाओगे तो तुम्हे कष्ट का भागी होना पडेगा।"[१०]

इसी प्रकार मे देश-कालिक अविच्छिन्नता का अभाव भी पौराणिक विषय-अवधारण मे देखा जा सकता है। वास्तव मे पौराणिक व्यक्ति देश-काल को अत्यन्त भिन्न प्रकार से अवधारित करता है। उसका अनुक्रम तथा समकालिकता का अवधारण हमारे सामान्य अवधारणा से, विशेषत वैज्ञानिक अवधारण से, अत्यन्त भिन्न प्रकार का होता है। देश और काल दोनो ही अवस्थाओ मे पौराणिक धारणा वस्तु-सत् का स्वतन्त्र और आशिक कारको (फैक्टर्स) मे विभाजन नही करके उन सब वस्तुओ को एक सामान्य कारणात्मक आवेष्टन मे सन्निविष्ट कर लेती है जिनमे देशगत समीपता है, अथवा जो देश मे कितने भी विलग होने पर द्रव्य अथवा आकृति की एकता के द्वारा, अथवा अगागीभाव से, सम्बद्ध है अथवा रहे हैं। इस प्रकार, एक व्यक्ति और उसका कोई अश—नाखून और बाल तक—देश मे कितने भी विच्छिन्न होने पर जादुई एकता मे अविच्छिन्न रहते हैं। क्योकि कोई भी दो या अधिक

---

१० अर्न्स्ट कैसीरर · फिलोसोफी ऑफ सिम्बोलिक फार्म्स, जिल्द २, पृ० १८१ पर उद्धृत।

वस्तुए आनुभूतिक अथवा जादुई एकत्व मे लय हो सकते है। इसलिए पौराणिक के लिए विषय देश-काल मे स्पष्ट रेखाकित वस्तु नही होता।

देश-कालिक निरन्तरता के प्रति भी पौराणिक-अवधारणा उपेक्षाशील है। कोई भी वस्तु एक स्थान से तिरोहित होकर दूसरे स्थान पर प्रकट हो सकती है, अथवा लुप्त की जा सकती है।

पौराणिक विषय-अवधारणा के इस विश्लेषण मे स्पष्ट है कि इस अवधारणा का स्वरूप हमारे अवधारणा से अत्यन्त भिन्न प्रकार का है—हम जिन्हे मेज, कुर्सी आदि स्थिर-ठोस वस्तुओ के रूप मे देखते है वे पौराणिक के लिए ठीक से वैसी ही वस्तुए नही है, इनकी सीमाए देश मे अनिश्चित और तरल तथा काल मे विशृ खल है। किन्तु यह अनिश्चितता तथा विशृ खलता केवल हमारे दृष्टिकोण से ही है, पौराणिक के दृष्टिकोण से इनमे एक पूर्ण नियमितता और सुस्थिरता है। इसका कारण है, पौराणिक वस्तु-अवधारण मे विषय और विषयी के बीच पूर्ण विश्लेषण घटित नहीं होता और परिणामतः वस्तु की कोटि विषयी से स्वतन्त्र निर्धारित नहीं होती। हमारे अनुभव-विषय अनुभव से पृथक् कल्पित होकर भौतिक देश-काल मे स्थान पाते हैं। उनसे हमारा सम्पर्क केवल उनके तथाकथित इन्द्रिय-ग्राह्य गुणो के माध्यम से होता है। हमारे लिए उनका मूल-गुण सख्या और द्रव्यमान (मास) है और तार्किक सन्दर्भ सत्यासत्य है। सत्यासत्य सन्दर्भ मे घटित होने के लिए यह आवश्यक है कि इनके निजी स्थायी और निश्चित गुण हो। पौराणिक चेतना को ये विषय सत्यासत्य के सन्दर्भ मे प्रदत्त नही होकर शुभाशुभ, उपकारक-अपकारक, सुन्दर-कुरूप के सन्दर्भ में प्रदत्त होते है। इसलिए इनके लिए स्थायित्व और निश्चितता अपेक्षित नही है, इनका मनोदशा और अभिवृत्ति के साथ समजस होना अधिक आवश्यक है। हनुमान जी क्षण मे भूधराकार और क्षण मे मत्कुणाकार रूप धारण कर अपने देवत्व को सहज सिद्ध कर सकते हैं, क्योकि वस्तु के दृश्य-गुण महत्वपूर्ण नही होकर उपकारक-अपकारक गुण अधिक महत्वपूर्ण होते हैं।

यही बात पौराणिक की कारण की अवधारणा मे देखी जा सकती है। कारणता की अवधारणा विज्ञान के लिए आधारभूत है, क्योकि इसके बिना घटनाओ मे कोई व्यवस्था कल्पित नही की जा सकती। व्यवस्था के लिए आवश्यक है कि प्रत्येक घटना कारण-शृ खला मे निबद्ध हो। घटना घ के

घटित होने का कारण बताने का अर्थ है उसकी व्याख्या करना और कार्य के रूप मे उसका स्वरूप निर्धारित करना। इस प्रकार से ज्ञान के लिए कारणता, और इस प्रकार निर्धारितता, एक आधारभूत अभ्युपगम है। किन्तु आकस्मिक घटनाए भी होती है। वैज्ञानिक-सैद्धान्तिक-चिंतन इस आकस्मिकता को अपने नियत सन्दर्भ मे कही आकलित नही कर सकता, ऐसी घटना कारणता के सन्दर्भ से निकल कर सोद्देश्य-क्रिया अथवा प्रयोजन के सन्दर्भ मे स्थान पाती है। किन्तु पौराणिकता के लिए कारणता जड घटनाओ का अनुक्रम नही है, प्रत्येक घटना का कारण चेतन प्रयोजन है, यह शत्रु अथवा मित्र के जादू के कारण अथवा देवता या राक्षस के किसी प्रयोजन से घटित होती हे। इसलिए मन्त्र, प्रार्थना और जादू से अशुभ घटनाओ के होने को रोका जा सकता है और शुभ घटनाओ को कारित किया जा सकता हे।

इसका अर्थ यह नही है कि आदिमो मे कारणता की वैज्ञानिक-सैद्धान्तिक अवधारणा का लेश मात्र भी नही है। मैलिनोवस्की के अनुसार, आदिमा मे ऐहिक परम्परा भी पाई जाती है जिसका आधार रूढि तथा विधि-व्यवस्था होता है, जिससे आदिम-सामाजिक जीवन का निर्धारण होता है। "ये नियम जादू से और दैवी समर्थन अथवा आदेश से सर्वथा रहित होते है और इनमे कोई धार्मिक सस्कार आदि का योग नही रहता। . . .
हमारे लिए महत्वपूर्ण बात यह जानने की है कि जादू तथा धार्मिक सस्कार को वही स्थान मिलता है जहा ज्ञान असमर्थ रहता है।"[११] इसी प्रकार वे "मैजिक, साइन्स एण्ड रिलीज्यन" मे लिखते हैं

"क्या इसका कारण यह समझा जाय कि आदिम लोग सब अच्छे परिणामो का कारण जादू को मानते है? निश्चित रूप से नही। यदि आप किसी आदिम से यह कहे कि वह अपना बाग मुख्य रूप से जादू से ही रोपे और अपना कार्य छोड दे, तो वह आपकी मूर्खता पर हँस देगा। आप ही के समान वह भी जानता है कि घटनाओ और वस्तुस्थितियो की प्राकृतिक परिस्थितियाँ और कारण होते है, और अपने अनुभव तथा प्रयोग के आधार पर वह यह भी जानता है कि वह इन प्राकृतिक शक्तियो का नियन्त्रण अपने प्रयत्नो से कर सकता है। निश्चय ही उसका ज्ञान सीमित है, किन्तु जितना

---

११ दि फाउडेशस् ऑफ फेथ एड मॉरल्स्, पृ ३४

पुस्तक के "समार-मडल और विश्वविस्तार' अध्याय मे वे लिखते ह "अब भुवनो के विन्यास के सम्बन्ध मे कुछ कहा जाता हे। ब्रह्माड मे सबसे नीचे कालाग्नि भुवन हैं। वह अग्निमय रुद्रो से परिवेष्टित है। जब परमेश्वर की महार-शक्ति की प्रेरणा होती ह तब कालाग्नि का तेज उद्दीप्त होता है। उस समय सब अध्वाम्रा के भुवनो के जीवो के हृदय मे त्रास उत्पन्न होता हे। उसके अनन्तर धूम-राशि रहती हे। उसके ऊपर नरक ह। ३२ प्रधान नरको के नाम मिलते हैं। नरक आठ श्रेणियों मे विभाजित किये जाते ह। रुद्रगण असख्य परिवारो के साथ ब्रह्माड को वेष्टित किये हुए हैं। ये सब श्रीकठनाथ से अधिष्ठित होकर देवताओ के विपक्ष मे ईश्वर की सृष्टि करते हैं और सहार भी करते हे, अर्थात् प्रसन्न होकर देवताओ को वाछानुरूप ऐश्वर्य प्रदान करते है एव अपराधवश कुपित होकर ऐश्वर्य का हरण भी करते है"[१३] आदि। इमी प्रकार से तन्त्रो मे देह-विज्ञान का भी अत्यन्त सूक्ष्म और जटिल सिद्धान्त है।[१४]

ज्योतिष तथा तन्त्रयोग को पौराणिक कहने के सम्बन्ध मे यहाँ थोडा स्पष्टीकरण अपेक्षित हे। ज्योतिष मे वैज्ञानिकता के सब लक्षण विद्यमान हैं, इसमे घनाटओ की व्याख्या और भविष्यवाणी की जाती हे, परिणामत इसमे परीक्षा और प्रेक्षण स्थापनाओ को सिद्ध और असिद्ध करते हैं, इसमे तार्किक कठोरता (रिगर) है और मूल सैद्धान्तिक अभ्युपगमो और आक्षिप्तों (पोजिट्स) से वे सब घटनाए निगमित की जा सकती हैं जो इसके क्षेत्र के तथ्य है। किन्तु तब भी यह विज्ञान अन्य विज्ञानो से एक महत्वपूर्ण अर्थ मं भिन्न है। यह भेद इसके तथ्यो, घटनाओ और अभ्युपगमो के स्वरूप की विशिष्टता मे है, ये सब शुभ-अशुभ तथा इष्ट-अनिष्ट के सन्दर्भ मे अपना सत्य पाते हैं। इसके मूल-सैद्धातिक आक्षिप्त शनि, चन्द्रमा, सूर्य आदि, तथा इनके घर और सम्बन्ध, न तो ग्रहो की मामान्य स्थितिया है और न ये रूपकात्मक अथवा प्रतीकात्मक सकेत हैं, ये वास्तव सत्ताए है जो अभीष्ट-मूलक कारणता और आनुभूतिक वस्तु-अवधारण के मन्दर्भ मे जन्म लेती हैं।

यही बात तन्त्र के लिए भी कही जा सकती है। तन्त्र-योग एक अन्य

---

१३ प० गोपीनाथ कविराज—तान्त्रिक वाङ्मय मे शाक्त दृष्टि, पृष्ठ १४२-४३.
१४ वही, पृष्ठ १०७-१२८.

घटित होने का कारण बताने का अर्थ है उसकी व्याख्या करना और कार्य के रूप मे उसका स्वरूप निर्धारित करना। इस प्रकार से ज्ञान के लिए कारणता, और इस प्रकार निर्धारितता, एक आधारभूत अभ्युपगम है। किन्तु आकस्मिक घटनाए भी होती हैं। वैज्ञानिक–सैद्धान्तिक–चिंतन इस आकस्मिकता को अपने नियत सन्दर्भ में कही आकलित नही कर सकता, ऐसी घटना कारणता के सन्दर्भ से निकल कर सोद्देश्य-क्रिया अथवा प्रयोजन के सन्दर्भ मे स्थान पाती है। किन्तु पौराणिकता के लिए कारणता जड घटनाओ का अनुक्रम नही है, प्रत्येक घटना का कारण चेतन प्रयोजन है, यह शत्रु अथवा मित्र के जादू के कारण अथवा देवता या राक्षस के किसी प्रयोजन से घटित होती हे। इसलिए मन्त्र, प्रार्थना और जादू से अशुभ घटनाओ के होने को रोका जा सकता है और शुभ घटनाओ को कारित किया जा सकता है।

इसका अर्थ यह नही है कि आदिमो मे कारणता की वैज्ञानिक-सैद्धान्तिक अवधारणा का लेश मात्र भी नही है। मैलिनोवस्की के अनुसार, आदिमा मे ऐहिक परम्परा भी पाई जाती है जिसका आधार रूढि तथा विधि-व्यवस्था होता है, जिससे आदिम-सामाजिक जीवन का निर्धारण होता है। "ये नियम जादू से और दैवी समर्थन अथवा आदेश से सर्वथा रहित होते हैं और इनमे कोई धार्मिक सस्कार आदि का योग नही रहता। . . . हमारे लिए महत्वपूर्ण बात यह जानने की है कि जादू तथा धार्मिक सस्कार को वही स्थान मिलता है जहा ज्ञान असमर्थ रहता है।"[११] इसी प्रकार वे "मैजिक, साइन्स एण्ड रिलीज्यन" मे लिखते है

"क्या इसका कारण यह समझा जाय कि आदिम लोग सब अच्छे परिणामो का कारण जादू को मानते हैं? निश्चित रूप से नही। यदि आप किसी आदिम से यह कहे कि वह अपना बाग मुख्य रूप से जादू से ही रोपे और अपना कार्य छोड दे, तो वह आपकी मूर्खता पर हँस देगा। आप ही के समान वह भी जानता है कि घटनाओ और वस्तुस्थितियो की प्राकृतिक परिस्थितियाँ और कारण होते हैं, और अपने अनुभव तथा प्रयोग के आधार पर वह यह भी जानता है कि वह इन प्राकृतिक शक्तियो का नियन्त्रण अपने प्रयत्नो से कर सकता है। निश्चय ही उसका ज्ञान सीमित है, किन्तु जितना

११ दि फाउण्डेशस् ऑफ फेथ एड मॉरल्स्, पृ ३४

यह है, यह रहस्यवाद के विरुद्ध एक दृढ ढाल का काय करता है।"[१२]

वास्तव मे यह कहना कि आदिम व्यक्ति घटनाओं को कभी प्राकृतिक सन्दर्भ मे देखता ही नही, यह कहने के बराबर है कि वह पत्थर से टकराने पर लगी चोट को किसी दैत्य का प्रहार समझता हे। यह ठीक नही है। आदिम व्यक्ति प्राकृतिक कारण-कार्यो का भी अत्यन्त सूक्ष्म विवेचक होता है। किन्तु तब भी, यह कहना कि जादू उसके जीवन मे वही प्रवेश करता है जहाँ उसका ज्ञान असमथ रहता है, अयुक्त है, क्योंकि जादू और पराशक्तियो मे विश्वास उसके अवधारण मे मूल उपकरण हैं। इसीलिए वह जबकि पत्थर से चोट खाने पर ठोकर को उसका कारण मान सकता है, वह यह भी मान सकता हे कि वह पत्थर साधारण पत्थर नही हे, वह जादू अथवा प्रेत-निविष्ट है। पत्थर उसके लिए 'पत्थर-देवता' भी है।

यहा मैलिनोवस्की का कारणता की पौराणिक अवधारणा को अज्ञान-जन्य मानना स्पष्ट है। जैसाकि हमने इस अध्याय के आरम्भ मे ही कहा था, वैज्ञानिक दृष्टि के लिए यह धारणा अनिवार्य है, किन्तु यह उचित नही है। कारणता की वैज्ञानिक अवधारणा भी अपोहात्मक अवधारणा ही है जिसमे कारण और काय अत्यन्त विश्लिष्ट और सिद्धान्तीकृत होते है, केवल एक पूर्वगामी घटना पश्चाद्गामी घटना की कारण नही हो सकती, चाहे उनमे यह सम्बन्ध कितना भी नियत क्यो न हो। उदाहरणत निम्बू का सेवन मसूडे और गले के घावो के लिए उपकारक है, इस प्रकार से निम्बू का सेवन घाव दूर होने का कारण हुआ। किन्तु विज्ञान यहा तक ही सन्तुष्ट नही रहता, वह घावो के विशिष्ट स्वरूप और निम्बू मे विद्यमान विशिष्ट तत्व (विटेमन सी) मे नियत और अनिवार्य मम्बन्ध स्थापित करता है।

कारण-कार्य की पौराणिक अवधारणा मे कोई भी घटना अथवा वस्तु-स्थिति किसी भी घटना अथवा वस्तुस्थिति की कारण हो सकती है। उदाहरणत प्रवासी पक्षी नयी ऋतु के कारण हो सकते हैं, शत्रु द्वारा काले जादू का प्रयोग कृषि नष्ट होने का कारण हो सकता है। इस दृष्टि से वास्तव मे ही कारणता को यह अवधारणा अज्ञान-मूलक है, किन्तु इसका अर्थ यह नही है कि इस धारणा मे स्वरूपत कोई कमी है और परिणामत इसका शोधन कर औचित्य स्थापन

---

१२. वही, पृष्ठ १२

नही किया जा सकता। किसी घटना घ का कोई कारण क मानने का अर्थ है कि क घ के लिए कार्य-समर्थ है। पौराणिक जब प्रवासी पक्षियो को ऋतु का वाहक मानता है तब वह निश्चत रूप से भ्रम मे है, क्योंकि उसे दिखाया जा सकता है कि पक्षियो के आगमन के बिना भी ऋतु आएगी, और परिणामतः वह (आदिम) झट से अपने भ्रम को स्वीकार कर लेगा। किन्तु अच्छे और बुरे शकुन, देव या दैत्य के प्रकोप तथा जादू को अज्ञान सिद्ध नही किया जा सकता, क्योकि ये एक मौलिक अवधारणा-व्यवस्था का ही निर्माण करते है। एक अवधारणा-व्यवस्था सत्य या असत्य अथवा सिद्ध या असिद्ध नही होती, सिद्ध या असिद्ध इसके सन्दर्भ मे रचित विशिष्ट अपेक्षाए होती है। व्यवस्था होने से इनमे विज्ञान की उतनी ही सभावना है जितनी आनुभविक-तार्किक व्यवस्था मे। वास्तव में फ्रेजर और मैलिनोवस्की जादू को विज्ञान का समतुल्य ही कहते है। किन्तु तन्त्र-योग और फलित ज्योतिष को एक सैद्धान्तिक-व्यवस्थात्मक अर्थ मे कारणता की पौराणिक अवधारणाओ पर आधारित विज्ञान ही कहा जा सकता हे। तन्त्र के अनुसार, शब्द सिद्ध करके भावी का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है, मन्त्र सिद्ध करके इष्ट-सिद्धि की शक्ति प्राप्त की जा सकती है और प्रेत सिद्ध करके अनिष्ट की शक्ति प्राप्त की जा सकती हे। ज्योतिष मे ग्रहो की स्थिति शुभ-अशुभ घटनाओ का निर्धारण करती है, और यह ग्रह-स्थिति भी भौतिक ग्रहो की स्थिति न होकर उपकारक और अपकारक ग्रहो की मित्र या शत्रु घरो मे स्थिति कल्पित की जाती है। कारणात्मक अवधारणा के इन परिष्कारो को पौराणिक अवधारणा के परिष्कार कह सकते है जबकि ऐहिक अवधारण का परिष्कार विज्ञान मे निष्पन्न होता है। यद्यपि तन्त्रयोग और ज्योतिष मे इस दृष्टि मे मौलिक विरोध प्रतीत होता है कि तन्त्र सकल्प को कार्य-सामर्थ्य देता हैं जबकि ज्योतिष सकल्प को नियत मानता है, किन्तु यह विरोध वास्तव नही है, क्योंकि दोनो की घटनाए मानसिक स्वरूप की है, और दूसरे, कारक दोनो मे इष्ट ही है—एक मे इष्ट मानवीय है और दूसरे मे पराक् है। ये दोनो विज्ञान अत्यन्त जटिल और परिष्कृत हैं, तन्त्र तो विशेष रूप से अत्यन्त जटिल और परिष्कृत विज्ञान है। इसमे मन, शरीर और विश्व की सरचना एक सूक्ष्म व्यवस्था का निर्माण करती है। यहा हम प० गोपीनाथ कविराज की पुस्तक "तान्त्रिक वाड्मय मे शाक्त दृष्टि" से दो-एक उदाहरण देंगे। इस

पुस्तक के "समार-मडल और विश्वविस्तार' अध्याय मे वे लिखते है "अब भुवनो के विन्यास के सम्बन्ध मे कुछ कहा जाता है। ब्रह्माड मे सबसे नीचे कालाग्नि भुवन है। वह अग्निमय रुद्रो से परिवेष्टित है। जब परमेश्वर की सहार-शक्ति की प्रेरणा होती है तब कालाग्नि का तेज उद्दीप्त होता है। उस समय सब अध्वाओ के भुवनो के जीवो के हृदय मे त्रास उत्पन्न होता है। उसके अनन्तर धूम-राशि रहती है। उसके ऊपर नरक है। ३२ प्रधान नरको के नाम मिलते है। नरक आठ श्रेणियो मे विभाजित किये जाते है। रुद्रगण असख्य परिवारो के साथ ब्रह्माड को वेष्टित किये हुए है। ये सब श्रीकठनाथ से अधिष्ठित होकर देवताओ के विपक्ष मे ईश्वर की सृष्टि करते है और सहार भी करते है, अर्थात् प्रसन्न होकर देवताओ को वाछानुरूप ऐश्वर्य प्रदान करते है एव अपराधवश कुपित होकर ऐश्वर्य का हरण भी करते है"[१३] आदि। इसी प्रकार से तन्त्रो मे देह-विज्ञान का भी अत्यन्त सूक्ष्म और जटिल सिद्धान्त है।[१४]

ज्योतिष तथा तन्त्रयोग को पौराणिक कहने के सम्बन्ध मे यहाँ थोडा स्पष्टीकरण अपेक्षित है। ज्योतिष मे वैज्ञानिकता के सब लक्षण विद्यमान है, इसमे घनाटओ की व्याख्या और भविष्यवाणी की जाती है, परिणामत इसमे परीक्षा और प्रेक्षण स्थापनाओ को सिद्ध और असिद्ध करते है, इसमे तार्किक कठोरता (रिगर) है और मूल सैद्धान्तिक अभ्युपगमो और आक्षिप्तो (पोजिट्स) से वे सब घटनाए निगमित की जा सकती है जो इसके क्षेत्र के तथ्य है। किन्तु तब भी यह विज्ञान अन्य विज्ञानो से एक महत्वपूर्ण अर्थ मे भिन्न है। यह भेद इसके तथ्यो, घटनाओ और अभ्युपगमो के स्वरूप की विशिष्टता मे है, ये सब शुभ-अशुभ तथा इष्ट-अनिष्ट के सन्दर्भ मे अपना सत्य पाते है। इसके मूल-सैद्धातिक आक्षिप्त शनि, चन्द्रमा, सूर्य आदि, तथा इनके घर और सम्बन्ध, न तो ग्रहो की सामान्य स्थितिया है और न ये रूपकात्मक अथवा प्रतीकात्मक सकेत हैं, ये वास्तव सत्ताए है जो अभीष्ट-मूलक कारणता और आनुभूतिक वस्तु-अवधारण के सन्दर्भ मे जन्म लेती है।

यही बात तन्त्र के लिए भी कही जा सकती है। तन्त्र-योग एक अन्य

---

१३ प० गोपीनाथ कविराज—तान्त्रिक वाङ्मय मे शाक्त दृष्टि, पृष्ठ १४२-४३.

१४ वही, पृष्ठ १०७-१२८.

और सर्वथा भिन्न प्रकार का विज्ञान है। इसमे घटनाओ की व्याख्या और भविष्यवाणी अभीष्ट नही है, न परीक्षा-प्रेक्षण के लिए इसमे कोई विशेष स्थान है। यह शुद्ध रूप से एक व्यवस्थात्मक विज्ञान है। यद्यपि सामान्य व्यवस्थान की सफलता के लिए परीक्षा-प्रेक्षण आवश्यक है, किन्तु इसमे ये आवश्यक नही है, क्योकि इस विज्ञान के विषय घटनाए और स्थितिया न होकर वृत्तिया है, यह अन्तर्गुहावर्त्ती चित्तवृत्तियो के विनियोग का विज्ञान है। पुन इसका सन्दर्भ इष्ट-अनिष्ट तथा शुभ-अशुभ है और कार्य-सामर्थ्य इसका लक्ष्य है। यद्यपि तन्त्र मे एक सीमा तक रहस्यवाद भी है किन्तु मुख्यत यह शुभ-अशुभ तथा इष्ट-अनिष्ट के आधार पर वस्तु-अवधारण करता है। ऊपर ससार-मडल के विवरण से यह देखा जा सकता है। इसमे, पुनः, ये नरकादि केवल प्रतीक नही है, ये वास्तव सत्ताए हैं।

× × ×

पौराणिकता को हमने एक अवधारण-प्रकार कहा, जो अन्य अवधारण-प्रकारो का समकक्ष है। किन्तु इस पर यह आपत्ति की जा सकती है कि इसके अवधारण-प्रकार होने से यह सिद्ध नही होता कि यह एक अत्यन्त भ्रान्त प्रकार नही है जोकि एक विमूढ मनोवृत्ति का परिणाम है। कहा जा सकता है कि यह हमारे ही विवेचन से सिद्ध है कि यह विमूढताजन्य है क्योकि इसमे एक भयानक कोटि-भ्रम निहित है—इसमे प्रयोजन और वस्तु, मूल्य और सत् मे कोई अन्तर नही किया जाता, दूसरे शब्दो मे, विषयीनिष्ठ और विषयनिष्ठ मे कोई अन्तर नही देखा जाता, बल्कि उसे घपला दिया जाता है। कवि फूल को "मुस्काते हुए" देखता है, किन्तु वह "फूल की मुस्कान" को उसके वर्ण के समान उसका गुण नही मानता, यह उसका व्यजनात्मक भाषा-प्रयोग होता है। जैसाकि काण्ट कहते है, "कलात्मक अनुभव अपने विषय के अस्तित्व अथवा अनस्तित्व के प्रति पूर्णत अनपेक्षी होता है।" पौराणिकता इसके ठीक विपरीत अपने विषय के अस्तित्व के प्रति पूर्णत. आश्वस्त होती है।

किन्तु यह आपत्ति सही नही है, क्योकि इसमे यह पूर्वमान्यता है कि अवधारण का एक प्रकार वस्तु-सत् के अधिक निकट है और दूसरे प्रकार अत्यधिक दूराकृष्ट है। यहा हम इस प्रश्न के विस्तार मे नही जा सकते, इस पर अ शत विचार धर्म और प्राकृतिक विज्ञान विषयक अध्यायो मे हम करेंगे, किन्तु यहा इतना कहना आवश्यक है कि एक अवधारण को दूसरे से अधिक

युक्त कहने वाले के ऊपर यह दायित्व है कि वह कोई ऐसी कसौटी बताए जो यह निर्णय कर सके।

विज्ञान यह कसौटी देता है, वह विषय मे से ऐसे सब गुणो को निराकृत कर देता है जो विषयी-सापेक्ष है और इसलिये जो विषय के नही हैं। ये गुण कौन से हैं ? सुन्दर-असुन्दर ऐसे गुण नही हो सकते, क्योंकि कोई वस्तु यदि एक समय सुन्दर लगती है तो दूसरे समय वह असुन्दर लगती है, एक को यदि वह सुन्दर लगती है तो दूसरे को असुन्दर लगती है। वर्ण, गन्ध, कोमलता आदि भी ऐसे विषय नही हो सकते, क्योकि ये भी इन्द्रियो के सापेक्ष हैं, आख को वस्तु वर्ण-युक्त दिखाई देती हे कान को नही, एक को कोई वस्तु लाल ल१ प्रकार की दिखाई देती है दूसरे को ल२ प्रकार की। तब फिर वस्तु अथवा विषय के अपने गुण कौन से है ? विज्ञान के अनुसार केवल मात्राए—सख्याए—वस्तु के अपने गुण है। सख्याए विशुद्ध रूप से बुद्धि-ग्राह्य हैं और निरपेक्ष है, इसलिए ये वस्तुसत् के गुण हैं। विज्ञान के लिए यह अनिवार्य धारणा है। किन्तु ड्युई ने अत्यन्त सुन्दर ढग से इस प्रश्न का दूसरा पक्ष प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार

"वस्तुए करुण, दुखी, सुन्दर, हास्यमय, स्थिर, विक्षुब्ध, सुखी, कष्टमय, ऊबपूर्ण, कठोर-चित्त, सहानुभूतिपूर्ण, कुतुहलपूर्ण तथा समीत होती हैं, वे इस प्रकार की प्रत्यक्षत, स्वत और निरपेक्षत होती हैं—ये लक्षण अपने आप मे ठीक उसी स्तर के हैं जिस स्तर के वर्ण, गन्ध, स्पृश्य तथा आस्वाद्य गुण। कोई भी ऐसी कसौटी, जो इन दूसरे लक्षणो को स्वायत्त और "कठोर प्रदत्त" (ठोस तथ्य) स्वीकारती है, यदि निष्पक्ष भाव से लागू की जाय तो वह प्रथम लक्षणो के सम्बन्ध मे भी उसी निष्कर्ष पर पहुचेगी। कोई भी लक्षण अपने आप मे आत्यन्तिक है, यह एकसाथ मौलिक और परम होता है प्रत्यक्ष-अनुभव के विषयभूत इन अर्थपूर्ण और सवेद्य लक्षणो का वैज्ञानिक विषयो के पक्ष मे परित्याग इन लक्षणो को वैसा का वैसा छोड देता है, क्योकि ये तो ग्रहण होते ही हैं, उन्हे जानना आवश्यक ही नही है।"[१५] किन्तु हम इससे आगे जाकर कहना चाहते हैं कि ये लक्षण भी विषय-कृत होकर सिद्धान्त मे स्थापित किये जा सकते है, तत्प्रयोग मे ठीक यही हुआ

---

१५ एक्पीरीयेंस एण्ड नेचर पृ० ९६

है, और धर्म मे एक अन्य प्रकार से होता है।

× × ×

क्रमश तार्किक मूल्यात्मक (धार्मिक) और तार्किक आनुभविक (वैज्ञानिक) दृष्टियो के विकास के साथ पौराणिक दृष्टि अथवा मनोवृत्ति का ह्रास हो गया। इन दोनो दृष्टियो की एक सामान्य विशेषता कही जा सकती है निर्वैयक्तीकरण। पुराण सब वस्तुओ को व्यक्तियो के रूप में देखता है—अत्यादिम पुराण उपकारक-अपकारक शक्तियां के रूप मे देखता है और विकसित पुराण (भारत, चीन, मिश्र आदि मे) देव-राक्षस रूप निश्चित व्यक्तित्वो के रूप मे। ये अवधारणा-प्रकार धार्मिक और वैज्ञानिक दोनो मनोवृत्तियो के विपरीत है और इनके विकास के साथ इसका ह्रास समानुपात मे होता है। यह दोनो मे भिन्न-भिन्न प्रकार से होता—धर्म मे मूल्य-समर्पित होकर और विज्ञान मे वस्तुसात् होकर।

किन्तु धार्मिक और वैज्ञानिक मनोवृत्तिया लोकसज्ञान को कभी पूर्णत व्याप्त नही करती, ये उसमे अत्यधिक मात्रा मे ही विकास करती हैं। इस प्रकार लोकसज्ञान इन तीनो का ही सम्मिश्र होता है। इसमे धर्म और विज्ञान का पौराणीकरण, पुराण का वैज्ञानीकरण और धार्मीकरण और धर्म का वैज्ञानीकरण हो जाता है। किन्तु पौराणिकता धर्म को कुछ समधिक मात्रा मे ही अनुप्राणित करती है, धर्म विशेष रूप से पौराणीकृत रूप में ही लोकसज्ञान को ग्राह्य होता है। इस प्रकार धर्म को निरन्तर अपने विरुद्ध पुराण से समझौता करना पडता है—वह अपने अर्थ को वैयक्तीकृत ईश्वर मे, और अधिकाशत अवतार, पैगम्बर या गुरू मे, प्रतिष्ठित करता है। सिख धर्म तक, जिसका उदय अट्ठारहवी शताब्दी मे (गुरू गोविन्द सिंह के साथ) हुआ "दशमेश" और "ग्रन्थ साहब" के रूप मे अपने अर्थ का पौराणीकरण करता है। पौराणिकता का अधिक स्थूल रूप साम्प्रदायिक चिह्नो के रूप मे देखा जा सकता है जिनका धार्मिक अर्थ से कोई सम्बन्ध नही होता और एक मात्र प्रयोजन साम्प्रदायिक सगठन को सवेगात्मक आधार देना होता-है। वास्तव मे जबकि प्राय ही किसी धार्मिक सम्प्रदाय का उदय एक नयी धार्मिक दृष्टि के साथ होता है, यह दृष्टि क्रमश क्षीण होकर पौराणिकता को समर्पित हो जाती है। किन्तु कुछ धर्म-सम्प्रदायो की दृष्टि अपने उद्भव के समय ही स्पष्ट नही होती—मुस्लिम और आर्यसमाजी सम्प्रदाय इसके अधिक स्पष्ट

उदाहरण हैं—मुस्लिम धर्म उतना ही सामाजिक-राजनैतिक प्रयोजनों के पौराणिक प्रतीकीकरण के साथ उद्भूत हुआ जितना धार्मिक दृष्टि के साथ, और आर्य-समाज निष्प्राण प्रतीकों के स्थान पर नये और सप्राण प्रतीकों—वेद, आर्य-जाति, आदि—की स्थापना के रूप से आविर्भूत हुआ।

ये नये पौराणिक प्रतीक आदिम प्रतीकों से कुछ भिन्न प्रकार के होते हैं, क्योंकि ये अधिकांशत एक व्यक्ति द्वारा सप्रयोजन स्थापित होते हैं और प्राय. तर्क-समर्थित भी होते हैं, किन्तु तब भी ये उससे मूलत भिन्न नहीं होते, और बहुत से तो प्रत्यक्षत ही भिन्न नहीं होते।

राजनीति मे यह पौराणिकता एक और रूप लेती है, इसमे यह जातिवाद, राष्ट्रवाद, राष्ट्रीय या जातीय हीरो आदि के रूप मे, और कभी-कभी 'प्रजातन्त्र', 'सर्वहारा', 'शोषक-शोषित' आदि जैसे सावेगिक रूप से अनुप्राणित शब्दों के रूप मे, प्रतिष्ठित होती है। नाजीवादी और साम्यवादी राजनीतियों मे जबकि इस पौराणिकता को अत्यधिक स्पष्ट रूप मे देखा जा सकता है, अन्यत्र भी इसका अभाव नहीं है। उदाहरणत इगलैण्ड का राजतन्त्र और "श्वेत-जाति की उत्तमता" देखे जा सकते है। 'प्रजातन्त्र' भी उतना वास्तव अर्थ-मूलक शब्द नहीं होकर सवेगात्मक शब्द ही अधिक है, जो अत्यन्त व्यवस्थात्मक प्रचार द्वारा एक प्रतीक रूप मे परिणत हो गया है। इसका यह पौराणिक रूप द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद विशेष रूप से प्रकट हुआ जब अमरीका और पश्चिमी यूरोप ने इसे रूस के विरुद्ध सवेगात्मक आधार के रूप मे प्रयुक्त किया। अमरीका मे द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद "प्रजातन्त्र की रक्षा" के लिए साम्यवाद के समर्थकों, अथवा सदेहास्पद समर्थकों, का जैसा दमन किया गया वह स्टालिन के दमन की याद दिलाता था।

ये राजनैतिक पौराणिक प्रतीक जातीय या राष्ट्रीय सगठन के लिए अनिवार्य होते हैं, किन्तु इनकी अनिवार्यता इस कारण से है कि मनुष्य आज भी अधिकांशत तर्क-दृष्टि के बजाय सवेगों से परिचालित होता है। यदि कोई एक राजनैतिक राष्ट्र पौराणिकता का परित्याग करना चाहे भी तो दूसरा उसके सम्मुख उसके अस्तित्व को खतरा उत्पन्न कर उसे पुन उसके लिए बाध्य कर देता है। ऐसी अवस्था मे यदि कोई राष्ट्र ऐसा प्रतीक उत्पन्न करने मे असफल रहता है तो यह केवल उसकी निर्जीवता का ही द्योतक होता है, उसकी तर्क-दृष्टि का नहीं। हमारा देश आज इस स्थिति मे ही है।

५

प्राकृतिक विज्ञान

भाषा, पुराण और धर्म के समान ही विज्ञान भी एक मानवीय सर्जन है, और इसमे मानव की निरन्तर प्रवृत्ति और प्रगति इस बात की सूचक है कि यह भी अन्य आयामो के अनुरूप एक मौलिक मानवीय वासना का सन्तोषक है। स्थूलरूप से, यह वासना वस्तु-विषयो का विनियोजन है। धर्म के विपरीत, इसका व्याख्या-केन्द्र शुद्ध वस्तु-सत् है जिसके सन्दर्भ मे यह ऐन्द्रिय विषयो का व्यवस्थापन करता है। ऐन्द्रिय विषय भी विषयी-सापेक्ष होते हैं, यह 'विषय' का अर्थ ही है कि वह 'विषयी-निर्भर' हो। किन्तु प्रत्येक विषय में स्वरूपत उसकी स्वतन्त्र सत्ता का भाव निहित रहता है। यह भाव ऐन्द्रिय विषयो मे विशेष रूप से स्फुट होता है। इसीलिये बाह्य विश्व की सत्ता का बोध हम मे सबसे अधिक सहज और आदिम है। इस भाव को विशेष बल भाषा के माध्यम से प्राप्त "सार्वजनिकता" से मिलता है। बहुत बार तो सार्वजनिकता को विषयनिष्ठता (विषयी-निरपेक्षता) का पर्याय ही समझा जाता है। किन्तु सार्वजनिकता विषय-निष्ठता की दिशा मे केवल प्रथम चरण है। प्रत्येक जिज्ञासा की पहली शर्त विषय के निरपेक्ष स्वरूप का निर्धारण है। विज्ञान ऐन्द्रिय-विषय के इस तत्व के निर्धारण का ही प्रयत्न करता है।

विषय के स्वरूप-निर्धारण का अर्थ है उसे एक तार्किक-व्यवस्था मे सस्थापित करना। इससे नीचे का स्तर विषय-अवधारण है, इस स्तर पर स्वरूप-निर्धारण की कोई चेष्टा नही रहती। यह स्तर पशु को भी सुलभ है। इन दो स्तरो मे भेद आवश्यक है, नही तो हमारे प्रतिपादन पर यह दोषारोपण किया जायगा कि हम तर्क को अस्थाने महत्व दे रहे हैं। इस प्रकार विज्ञान को ऐन्द्रिय विषयो की तर्क-व्यवस्था कह सकते हैं। व्हाइटहैड के

शब्दो मे, "विज्ञान तथा दर्शन की दिशा मे पहला कदम उस समय उठाया गया जब यह देखा गया कि प्रत्येक साधारण तथ्य (घटना-विषय) किसी नियम को उदाहृत करता है, ये नियम इन उदाहरणो मे स्वतत्र रूप मे समझे जाते हैं और तथ्य इन नियमो को सिद्ध करने वाले उदाहरणो के रूप मे देखे जाते हैं।"[1] उदाहरणत जैसाकि व्हाइटहैड कहते है, अरस्तू का यह प्रदिपादन कि "भौतिक पदार्थो मे पृथ्वी का केन्द्र-स्थान खोजने की प्रवृत्ति है" एक वैज्ञानिक प्रतिपादन है, क्योकि इसमे पत्थर, फल आदि के गिरने की घटनाए ऐसे "भौतिक पदार्थो" के रूप मे रूपान्तरित हो गयी है जो "पृथ्वी का केन्द्र खोजने की प्रवृत्ति" प्रदर्शित करते है। व्हाइटहैड के इस प्रतिपादन से कोई असहमत नही होगा, किन्तु यह विज्ञान को अन्य मानवीय सर्जनाओ से पृथक् नही करता। व्यवस्था, अथवा तथ्यो को नियमो के सस्थान मे देखना, सभी मानवीय सर्जनाओ की विशेषता है, इन व्यवस्थाओ को ही हम पुराण, धर्म, दर्शन और विज्ञान कहते हैं। किन्तु व्यवस्था होने के कारग विज्ञान के लिये भी यह आवश्यक है कि वह अपने तथ्यो को तर्क-व्यवस्था मे सस्थानित करे। इसकी विशिष्टता इसके तथ्यो मे और इसकी व्यवस्था के स्वरूप मे है।

जैसाकि हमने कहा, वैज्ञानिक व्यवस्थापन, अथवा कहे वैज्ञानिक परिज्ञान, का केन्द्र वस्तु-सत् है और इसका तथ्य-जगत् ऐन्द्रिय विषय है। 'वस्तु-सत' यहा एक अस्पष्ट पद है जिसका अर्थ हमारे अनुगामी विवेचन मे क्रमश स्पष्ट होगा। यहा केवल इतना ही कहना अभिप्रेत है कि ऐन्द्रिय विषयो का विपयी-निरपेक्ष सत्य वस्तु-सत् है। 'वस्तु-सत् विषय-व्यवस्थापन का केन्द्र है' कहने का अर्थ है कि यह ऐन्द्रिय विषयो के व्यवस्थापन का प्रयोजन-भूत है, अर्थात् यह व्यवस्था इसके अर्थ-सन्दर्भ मे जन्म लेती है। इस प्रकार से, ऐन्द्रिय विषय स्वत. वैज्ञानिक तथ्य नही होते, ये किसी भी व्यवस्था के तथ्य हो सकते हैं, ये केवल वस्तु-सत् के सन्दर्भ मे निरूपित होने पर ही वैज्ञानिक तथ्य बनते हैं।

× × ×

मेज, कुर्सी, चारपाई, पुस्तक आदि ऐन्द्रिय विपय है। किन्तु जैसे ही हम 'ऐन्द्रिय-विषय' इस पद के अर्थ पर विचार करते है हम पाते हैं कि इन

---

१ एड्वेंचर आफ आइडियाज, मेटर बुक्स, पृ० १४५

विषयों के अवधारण मे "ऐन्द्रियता" से बहुत कुछ अधिक सन्निविष्ट है। यह "अतीन्द्रिय कुछ" वास्तव मे इसमे उससे कही अधिक है जितना इसमे ऐन्द्रिय है। ऐन्द्रिय विषय वर्ण, स्पर्श, गन्ध आदि गुण है जो सवेदाश्रित है। आकार भी ऐन्द्रिय है, किन्तु ऐन्द्रिय विषय का आकार अनिश्चित और अस्पष्टत सीमाकित रहता है। इसके विपरीत, अवधारित विषय स्थायी होते है, ये तब भी रहते हैं जब इन्हे कोई नहीं देखता, ये अपने से अभिन्न होते हैं, सख्या और स्थिति इनके घटक होते हैं और इनमे विशिष्ट कार्य-सामर्थ्य रहती है। ये सभी तत्व इन विषयो के मूल घटक है और ये सब अतीन्द्रिय और अतएव आक्षिप्त (पोजिटिड) है।[2] लोक-सज्ञान (कामन-सेंस) इन दो पक्षो (ऐन्द्रिय और अतीन्द्रिय) मे भेद नही करता, ये दोनो पक्ष उसके लिये सहज सयुक्त रहते है। किन्तु विज्ञान मे ये दो पक्ष परस्पर विरुद्ध कर्षणो के रूप मे इसके "तथ्य" अथवा विषय मे तनाव उत्पन्न करते है।

यदि "मेज" मेरे देखने से स्वतन्त्र रहता है और मेरे चक्षु-समक्ष होने पर ऐन्द्रिय विषय के रूप मे प्रस्तुत होता है तब इसका ऐन्द्रिय रूप केवल आनुषगिक है, वास्तव मे तो उसका यह आनुषगिक (दृश्य) गुण भी उसकी निरपेक्ष कार्य-सामर्थ्य मे निहित होना आवश्यक है। स्वय चक्षु को भी उसकी कार्य-सामर्थ्य और अन्य निरपेक्ष गुणो की पदावली मे समझना आवश्यक है। वान् ओर्मान क्वाईन, जोकि एक प्रथित वैज्ञानिकतावादी दार्शनिक है, इसका निरूपण करते हुए कहते हैं "मै भौतिक विश्व मे अवस्थित एक भौतिक विषय (निरपेक्ष विषय) हू। इस भौतिक विश्व की कुछ शक्तिया मेरी सतह मे प्रविष्ट होती है। प्रकाश-रश्मिया मेरी रेटिना (दृष्टि-पटल) पर आघात करती है, अणु (मालीक्यूल) मेरे श्रोत्रपटल और अ गुलाग्रो पर आघात करते है, मैं सरचनात्मक (स्ट्रक्चर्ड) वायु-लहरो को प्रसारित करते हुए प्रत्याघात करता हू। ये लहरें मेजो, कुर्सियो, व्यक्तियो, मालीक्यूलो, प्रकाश-रश्मियो, दृष्टि-पटलो, मूल सख्याओ, असीम वर्गो, हर्ष तथा विषाद और शुभ तथा अशुभ के सम्बन्ध मे वार्तालाप का रूप लेती है।"[3]

---

२ द्रष्टव्य यशदेव शल्य—ज्ञान और सत् मे अ ८, राजकमल प्रकाशन, १९६७-

३ दि स्कोप एड लेग्वेज आफ साई स, ब्रिटिश जर्नल फार दि फिलासफी ऑफ साइ स, १९५७, पृ० ९१

किन्तु ऐसी अवस्था मे यह स्वरूप-स्थित निरपेक्ष विषय पूर्णत रचना (कस्ट्रक्शन) मे रूपान्तरित हो जाता है • क्योकि स्थायित्व या नैरन्तर्य वस्तु का गुण नही होकर मन का गुण है और इस प्रकार मे "मेज" का स्थायित्व मेरी स्मृति का सापेक्ष है और मेरी अपेक्षा मे उसमे आक्षिप्त हे, इसकी अपने से अभिन्नता (आइडेन्टिटी) और स्थिति सख्या और ज्यामिति की कोटियो को पूर्वकल्पित करती है और इस प्रकार से शुद्ध व्यवस्थात्मक रचनाए है, तथा कार्य-सामर्थ्य नैरन्तर्य, सख्या, तथा ज्यामिति की व्यवस्थात्मक रचनाओ से निष्पन्न बलकृत गति (मेकेनीकल मूवमेट) को पूर्वकल्पित करती है। इस प्रकार से, सवेद से पृथक्कृत भौतिक विषय सख्याओ और मानो (क्वाटिटीज) मे अन्तर्भूत हो जाते है। विज्ञान की इस सैद्धान्तिक भाषा का विवरण रूडोल्फ कार्नप इस प्रकार देते है "हम यह मान कर चलते है कि सैद्धान्तिक भाषा मे विशिष्ट देश-काल निर्देशाको (कोआर्डिनेट्स) की योजना (सिस्टम) पर आधारित है, इस प्रकार से देश-काल बिन्दु वास्तविक अको (रीयल नवर्स) के व्यवस्थित चतुष्क (क्वाडरपल्ज) है। एक देश-काल प्रदेश देश-काल बिन्दुओ का वर्ग है। कोई भी विशिष्ट भौतिकीय योजना, जिसके विषय मे भौतिक विज्ञान चर्चा करता है, उदाहरणत एक भौतिक वस्तु (मैटीरियल वाडी) अथवा विकिरण की प्रक्रिया (ए प्रासेस आफ रेडीयेशन), किसी देश-काल प्रदेश मे स्थानित होती है। जव भौतिक वैज्ञानिक किसी भौतिक योजना का, अथवा इसमे घटित होने वाली प्रक्रिया अथवा उसकी क्षणिक अवस्था का, वर्णन करता है तव वह या तो सम्पूर्ण प्रदेश को अथवा इसके बिन्दुओ को भौतिक परिमाण के (जैसे द्रव्यमान, वैद्युत् आवेश, तापमान, विद्युत्-चुम्बकीय क्षेत्र की तीव्रता, ऊर्जा तथा इसी प्रकार के अन्य) मूल्य देता है। भौतिक परिमाण के मूल्य या तो वास्तविक सख्याए होती है अथवा इनके गुणन-फल। इस प्रकार से, भौतिक परिमाण एक फलन है जिसके घटक (आर्गूमेन्ट्स) या तो देश-काल बिन्दु है अथवा क्षेत्र है, और जिसके मूल्य या तो वास्तविक सख्याए हैं अथवा इनके गुणन-फल।"[४]

इस प्रकार भौतिक विज्ञान के सदर्भ मे भौतिक द्रव्य प्रत्यक्ष का

---

४ कार्नप मेथोडोलोजीकल केरेक्टर ऑफ थ्योरेटीकल कान्सेप्ट्स, मिनेसोटा स्टडीज इन फिलासफी ऑफ माईन्स, जिल्द १

विषय नही होकर रचना, अथवा प्रत्ययीकरण (कासेप्चुअलाइजेशन) का विषय है। "जब हम देश का अवधारण विषय रूप मे करते है और द्रव्य का अवधारण उसमे अवस्थित होने वाले के रूप मे, तब हम वास्तव मे ज्यामितिक प्रतीको पर आधारित कल्पना का निर्माण कर रहे होते है। हम सम्प्रत्ययात्मक आकार तथा घनत्व को प्रत्यक्ष पर आरोपित करते है और इस आरोपण के लिए हम इतने अभ्यस्त हो गये हैं कि हम इसे स्वय प्रत्यक्ष के साथ ही व्यामिश्रित कर देते हे।"[५]

विपर्यस्त (आवबर्स) विषयनिष्ठता (विपर्यस्त इसलिये क्योकि वास्तव मे पूर्ण विषयीनिष्ठता ही विषयनिष्ठता का आधार है) की यह स्थिति न केवल विषयो के "आश्रय" के निर्धारण की दिशा मे ही हमे मिलती है बल्कि जहा यह ऐन्द्रिय सवेदो अथवा प्रत्यक्षो को भी अपने क्षेत्र मे स्वीकार करती प्रतीत होती हे वहा भी यह अत्यन्त रचनात्मक और विश्लेषणात्मक होती है। जैसा कि गेलिलियो ने कहा है "केवल सत्य, और अनिवार्य (नेसेस्सरी) वस्तुए ही, जोकि दूसरी तरह की नही हो सकती, वैज्ञानिक अनुसन्धान के क्षेत्र मे स्वीकृत हो सकती हैं।" यह स्थिति "निर्बाधित पतनशील पिंड" और "नियत वेग" आदि जैसी अवधारणाओ मे ही नही देखी जा सकती, जोकि पार्यन्तिक कल्पनाए (लिमिटिंग कासेप्ट्स) है और प्रत्यक्ष या प्रयोग मे अलभ्य है, बल्कि सामान्य कारण-कार्य सम्बन्ध के निर्धारण मे भी यह स्थिति देखी जा सकती है। यद्यपि कारण-सम्बन्ध प्रेक्षण और प्रयोग के आधार पर ही हमे ज्ञात होते है, किन्तु विज्ञान इन्हें इस स्थिति तक नही रहने देता। आनुभविक आधार पर कारण-सम्बन्ध केवल अनुक्रम-सम्बन्ध हैं, दो प्रकार की घटनाओ को हम नियत रूप से अनुक्रम मे देखते है तब प्रथम को दूसरे की कारण मान लेते है। अनुभव अथवा प्रत्यक्ष की सीमा मे रहते हुए यह प्रतिपादन एकदम सही है। किन्तु विज्ञान प्रेक्षणात्मक अनुक्रम का लेखा-जोखा नही रखता, वह नित्य और अनिवार्य सम्बन्धो की खोज करता है, वह घटनाओ का वर्गीकरण ही इस आधार पर करता है कि एक घटना दूसरे की अनिवार्य कारण हो सके। इस प्रकार से अ ब का कारण इस आधार पर स्वीकृत नही होता कि अ और ब अनुक्रम सम्बन्ध एक से अधिक बार देखा

---

५ कार्ल प्यर्सन-दि ग्रामर आफ साईस, पृ० २५०

गया है, बल्कि अ में वही वस्तुएं वर्गीकृत होती हैं जो ब को कारित करने में अनिवार्यतः समर्थ हैं, अथवा कहें, विज्ञान 'अ' संज्ञा "ब के लिए कारक सामर्थ्य" को ही देता है। इस प्रकार से विज्ञान ह्यूम और चार्वाकों की आपत्ति का उत्तर कारणता की कोटि को अनुभव के स्तर से रचनात्मक सम्प्रत्यय (कास्ट्रक्टिव कान्सेप्ट) के स्तर पर उठा कर देता है।

इस प्रकार से विज्ञान, जोकि प्रत्यक्ष के यथावत् वर्णन का आदर्श लेकर प्रवृत्त होता है, वास्तव में ठीक इससे विपरीत दिशा की ओर जाने को बाध्य है। यह अनिवार्य है, क्योंकि जैसाकि हमने कहा, इसका केन्द्र स्वयं ऐन्द्रिय प्रदत्त नहीं होकर, जोकि सन्तत दौड़ते हुए और अव्यवस्थित वर्ण-गंध आदि संवेद मात्र हैं, वस्तु-सत् है जो इनसे उतना ही दूराक्रान्त है जितना संवेग और वासना से ब्रह्म।

तब भी विज्ञान का प्रस्थान-बिन्दु प्रत्यक्षगत विषय ही है। किन्तु प्रत्यक्ष-विषय भी सद्यः प्राप्त संवेद मात्र नहीं है और न सद्य प्रत्यक्ष विषय मात्र ही है। सद्य प्रत्यक्ष रूप में पत्थर उतना "भौतिक विषय" नहीं है जितना उठाकर मारने का साधन। जैसाकि पीछे 'पुराण' अध्याय में हमने देखा था, सद्य प्रत्यक्ष-विषय संवेद, संवेग और अपेक्षाओं का युगपत् अधिष्ठान है। "भौतिक विषय" के रूप में अवधारित होने के लिए इसका अपोहात्मिका बुद्धि के समक्ष प्रस्तुत होना आवश्यक है। यह बुद्धि इसे विशिष्ट प्रकार के कारक के रूप में अवधारित करती है और इसके शेष "तत्वों" को हटा देती है। काष्ठ में अग्नि की कारक सामर्थ्य है यह मानव-कल्प वानर भी जानता रहा होगा, किन्तु उसके लाखों वर्ष बाद तक भी मनुष्य अग्नि को देवता के रूप में कल्पित करता रहा। अरस्तू तक ने सब वस्तुओं को उनकी विशिष्ट भीतरी शक्तियों के साथ कल्पित किया था। मेकेनिस्टिक सन्दर्भ में क्रियाओं को मनुष्य ने बहुत देर में देखना सीखा था। किन्तु यह सन्दर्भ भी व्याख्या के लिए अतीन्द्रिय तत्वों का आक्षेप करता है—अणु-परमाणु, ईथर, गुरुत्वाकर्षण आदि ऐसे ही तत्व हैं। अनुभववादी दर्शन से प्रभावित दार्शनिकों ने इन तत्वों से मुक्ति पाने के लिए विज्ञान की प्रकार्यात्मक (ऑपरेशनल) व्यवस्था दी और इस प्रकार विज्ञान को अतीन्द्रिय तत्वों से मुक्त किया। किन्तु यह मुक्ति उसे उतनी सस्ती नहीं पड़ी, इस रूप में विज्ञान का कार्य अब वर्णन नहीं रह कर व्यवस्थापन हो गया, और व्यवस्थापन

स्वरूपतः प्रागनुभविक ही हो सकता है, विषय-निष्ठ (निरपेक्ष सत् के अर्थ में) नही।

इस पर आपत्ति की जा सकती है कि विज्ञान अनुभव को व्यवस्था देता है, और उससे अधिक, आनुभविक विश्व के अनुसार अपने को निर्धारित करता है, इसकी व्यवस्था की युक्तता (वैलिडिटी) व्यवस्था की भीतरी सगति मे प्रतिष्ठित नही होती बल्कि प्रेक्षणो मे प्रतिष्ठित होती है, जो स्वय सगत-असगत नही होकर सगति को आधार प्रदान करते हैं।

यह आपत्ति एक सीमा तक उचित है विज्ञान शुद्ध आकारिक व्यवस्था नही है और न ऐसी शुद्ध गणितीय व्यवस्था ही है जिसके प्रतीक अपने रचना के नियमो मे अशेषतः अन्तर्भूत होते हैं। यह इस दृष्टि से दर्शन से भी भिन्न है, क्योकि इसकी अवधारणाए या सप्रत्यय रचनात्मक होते हुए भी बाह्य सत् मे टॅके होते हैं, इसके विपरीत दर्शन की कोई स्थापना प्रेक्षणो से बधित नही होती। दर्शन के विपरीत, विज्ञान के सब प्रतिपादन तब तक स्वीकृति की प्रतीक्षा मे रहते हैं जब तक वे अपेक्षित प्रेक्षण से प्रमाणित नही हो जाते। इस प्रकार से कहा जा सकता है कि विज्ञान प्रागनुभविक व्यवस्था नही होकर आनुभविक व्यवस्था ही है।

वास्तव मे अनुभववादी इससे भी आगे जाते हैं, उनके अनुसार विज्ञान का व्यवस्थात्मक पक्ष स्वतः अप्रतिष्ठित है, उसका न कुछ सत्-मूल्य है और न अर्थ। सब शब्दो का अर्थ और सब प्रतिपादनो का सत्य अन्ततः प्रेक्षण-मूलक है। विज्ञान के सिद्धान्त-वाक्य और सैद्धातिक "वस्तुए" इसी दृष्टि मे सार्थक और सत्य हैं कि ये प्रेक्षणो सम्बन्धी कथनो के सार रूप है।[६] यदि इस अनुभववादी सिद्धान्त को आत्यन्तिक रूप से समर्थित किया जाय तब विज्ञान को "प्रदत्त का वर्णन" कहा जा सकता है। वास्तव मे वे विज्ञान, जो अपनी व्यवस्था को पर्याप्त तार्किक कसाव (रिगर) नही दे पाये, वे वर्णन तक ही अपने को सीमित रखने का प्रयत्न करते हैं, समाज-विज्ञान इसका एक उदाहरण है, किन्तु वर्णनात्मकता विज्ञान के अविकसित स्तर की सूचक है, अपनी व्यवस्था को अधिकाधिक तर्क-व्यवस्थित (रिगरस) और

---

६ विल्फ्रिड सैल्लार्स-दि लैंग्वेज ऑफ थीयरीज, करेंट इश्यूज इन फिलासफी ऑफ साईस, १९६१, पृ० ६८.

अपने प्रेक्षणो को अधिकाधिक स्पष्ट-निर्धारित (प्रिसाइस) बनाने के लिये विज्ञान के लिये आवश्यक है कि वह अपने विषयो का गणितीकरण करे। जहा तक वह यह नही कर पाता है वहा तक वह अपने आदर्श से दूर रहता है। यह इस बात से देखा जा सकता हे कि कोई महत्वपूर्ण भौतिक वैज्ञानिक सिद्धान्त भाषा द्वारा व्यक्त नही किया जा सकता, वह केवल गणित द्वारा ही व्यक्त किया जा सकता है। अनुभववादियो का आग्रह है कि ये गाणितिक-प्रस्थापनाए भाषा मे अनूदित होकर ही अर्थ पाती हे, और जिस सीमा तक ये अनुवाद्य हैं उसी सीमा तक ये सार्थक हैं। किन्तु यह क्रमश स्पष्ट हो चुका है कि यह अनुवाद सभव नही है, और जिस सीमा तक भी यह सभव है वह केवल खीचातानी हे, क्योकि स्वय 'प्रेक्षण' कहा तक ऐन्द्रिय सवेद मात्र है और कहा तक गणितात्मक, यह देखने की बात है। जैसाकि हम पहले ही देख आए हैं, ऐन्द्रिय सवेद स्वत अत्यन्त अनिश्चित अनिवार्य और अर्थापेक्षी होते हैं।

× × ×

वास्तव मे अनुभववाद की समस्या दो ऐसे विरोधी आकर्पणो मे सामजस्य विधान करने की है जो इसके सिद्धान्त मे तनाव उत्पन्न करते हैं। इसने अनुभव का साक्ष्य केवल ज्ञान-मीमामात्मक विश्लेपण की माग के कारण ही स्वीकार नही किया था, क्योंकि यदि ऐसा ही होता तब उसने ऐन्द्रिय सवेद को ही एकमात्र अनुभव नही माना होता। यह दर्शन प्रकृतिवादी (मिटीरियलिस्टिक) अथवा इन्द्रियवादी संस्कृति की उपज होने से सवेद को एक विशेष अर्थ मे ही स्वीकार करता है। यदि सवेद इसके लिये मौलिक होता तो इसका सत् चैतन्य तत्व होता, किन्तु इसके लिये मौलिक प्रकृति-द्रव्य था इसीलिये इसके लिये अनुभव का शारीरिक रूप ही ग्राह्य था। स्थूल प्रकृतिवाद का त्याग इसने इसलिये किया क्योंकि वह प्रत्यक्ष से परे के तत्व की स्वीकृति को आवश्यक बनाता है और उसकी स्वीकृति अन्य अतीन्द्रिय तत्वो की स्वीकृति को नही रोक सकती। किन्तु सवेद के साथ 'ऐन्द्रिय' विशेपण का प्रयोग इसके प्रकृतिवादी आग्रह का स्पष्ट द्योतक है। बाह्य इन्द्रियों के अतिरिक्त एकमात्र जो अन्य सवेद इसने स्वीकार किया वह कायिक (सोमैटिक) सवेद था, जो हमारी बात को और पुष्ट करता है।

किन्तु तब भी इस लेख के आरम्भ मे उद्धृत श्वाईन का प्रतिपादन अनौ-

चित्यपूर्ण प्रतीत हो सकता है जिसमे सब कुछ भौतिक घटनाओ के रूप मे कल्पित किया गया है। यह विशेष रूप से प्रत्यक्षवादी दर्शन मे उस परम्परा की दृष्टि से अनुचित प्रतीत होता है जिसे, किसी अन्य उचित शब्द के अभाव मे, हम ज्ञानमीमासी परम्परा कह सकते है। इसके अनुसार 'भौतिक' एक रचनात्मक अवधारणा है और परिणामत कल्पना है। यद्यपि इस परम्परा का प्रभाव यूरोपीय वैज्ञानिक दर्शन मे बहुत रहा, किन्तु यह वास्तव मे यूरोपीय विचार मे अपनी ही एक स्थापना के विरुद्ध अपने वास्तविक प्रयोजन का सघर्ष था। स्थापना ज्ञानमीमासात्मक थी—कि हम इन्द्रियो से जानते है तो केवल ऐन्द्रिय प्रदत्त को जानते हैं, और ऐन्द्रिय प्रदत्त केवल रक्त, पीत आदि गुण हैं। किन्तु वास्तविक प्रयोजन तो वैज्ञानिक सत्य, अथवा कहे भौतिक सत्, का विमर्श ही था। इसीलिये वह तनाव निरन्तर इस दर्शन-परम्परा मे विद्यमान है जिसकी चर्चा हम पीछे कर आये है। इस दर्शन मे यह विवाद तक बडी गभीरता से चला कि "हम दूसरे के मन को कैसे जानते हैं?" किन्तु वास्तव मे तो इस तर्क से "दूसरे" का कोई अर्थ ही नही बनता था, क्योकि "अपना" भी कुछ नही था। यह एक व्यर्थकारी वृत्त था, मुख्य प्रश्न तो यह था कि सत् वह है जो प्रत्यक्षगत हैं, इसलिये सत्य वह है जो विज्ञान उद्घाटित करता है। इस बात पर किसी को आपत्ति नही थी, कहना चाहिये इस बात पर पूर्ण ऐकमत्य था, प्रश्न केवल यह था कि उस वृत्त को कैसे तोडा जाय जिसमे उसे एक स्थापना ने डाल दिया था। रसल उसमे वर्षो भटक कर अन्त मे उससे यह कह कर बाहर निकला कि इसे तोडा नही जा सकता, किन्तु इससे बाहर निकलना आवश्यक है,[७] और कार्नप यह कह कर कि वह स्थापना ही अयुक्त थी (जोकि वास्तव मे वह थी) इसलिये दर्शन को उस प्रयोजन को पूर्व-प्रतिज्ञा बनाना चाहिये जिसको लेकर वह प्रवृत्त हुआ था। इसे अत्यन्त स्पष्ट शब्दो मे न्यूराथ ने रखा जब उसने कहा "हमारी मूल प्रतिज्ञाए (प्रोटोकोल सेंटेंसिज) हमारी समकालीन संस्कृति के वैज्ञानिको की स्थापनाए हैं।"[८]

---

७ द्रष्टव्य ह्यूमन नॉलेज, इट्स स्कोप एड लिमिट्स, एलन एड अन्विन लडन।

८ द्रष्टव्य . कार्ल जी० हैम्पल-ऑन दि लोजीकल पोजिटिविस्ट थीयरी ऑफ ट्रुथ (एनेलेसिस ४, जनवरी १९३५) यहा मुझे राजस्थान विश्वविद्यालय मे दर्शन विषयक एक परिसवाद मे प्रो काली-

× × ×

एक सास्कृतिक पूर्वधारणा किसी दर्शन विशेष से कही अधिक शक्तिशाली होती हे, दर्शन स्वय उसकी पूर्वधारणा के स्वरूपनिरूपण के सन्दर्भ मे ही उत्पन्न होता है। जैसाकि हमने कहा,[६] यह पूर्वधारणा वास्तव मे सब सास्कृतिक वृत्तियो का अधिष्ठान होती है। पुनर्जागरण युग के बाद की यूरोपीय सस्कृति का अधिष्ठान विज्ञानादर्श मे है। विज्ञानादर्श या वैज्ञानिक जीवन-दृष्टि स्वय विज्ञान से बहुत अधिक है। जैसाकि हमने आगे धर्म अध्याय के अन्त मे कहा है, स्वय विज्ञान का धर्म से कोई विरोध नही है, यह विरोध तब उत्पन्न होता हे जब विज्ञान जीवन-दृष्टि हो जाता हे। जीवन-दृष्टि हुए बिना विज्ञान की वैसी प्रगति सभव नही थी जैसी यूरोप मे इसकी हुई, क्योकि सास्कृतिक मूल्य हुए बिना यह महान प्रतिभाओ को अपनी ओर आकर्षित नही कर सकता था। जीवन-दृष्टि होने पर सत् का, और सम्पूर्ण जगत् (फिनोमिना) का, व्याख्यान इसकी पदावली मे होना आवश्यक है—सब जगतो के लिये अनिवार्य है कि ये विभिन्न वृत्तियो के रूप मे उसमे अधिष्ठित हो। अन्यथा विज्ञान भौतिक प्रकृति के विनियोजन तक अपना क्षेत्र सीमित रख सकता था और मन तथा आत्मा के क्षेत्र उससे स्वतत्र अन्वेषण के क्षेत्र रह सकते थे। इस सीमित रूप मे विज्ञान वास्तव मे सभी सस्कृतियो मे सब समयो मे रहा है। किन्तु जीवन-दृष्टि होने पर ये क्षेत्र स्वतत्र नही रह सकते, तब इनके लिये "भौतिक" की कोटि मे अन्तर्भूत होना आवश्यक हो जाता है। यहा प्रो क्वाईन से एक उद्धरण देना उपयोगी होगा। वे कहते है "भौतिक घटनाओ

कृष्ण बैनर्जी द्वारा प्रस्तुत एक लेख का बर्बस ध्यान हो आता है। उन्होने उसमे कहा है कि "दर्शन की पूर्वप्रतिज्ञाए अपनी सस्कृति मे प्राप्त धारणाए होती है। मेरी सस्कृति की एक मुख्य धारणा पुनर्जन्म मे विश्वास है। मै उसे स्वीकार करता हू, और क्योकि इसे मै स्वीकार करता हू इसलिए प्रकृतिवाद असत्य है।" इस पर तर्क-विधि कुछ लोगो ने आपत्ति की, किन्तु प्रो० गोविन्दचन्द्र पाडे ने इसका समर्थन करते हुए कहा कि "सस्कृति दीर्घ अनुभव-परम्परा होने से सत्यमूलक होती है, और दूसरे, दर्शन किसी सांस्कृतिक मान्यता का ही समर्थन करता है" आदि।

६ सस्कृति का अधिष्ठान, पीछे अ २

का अस्तित्व तो सिद्ध है ही, तब दूसरी कोटि को क्यो लाया जाय? इस प्रकार से यह कहा जा सकता है कि अन्तर्दर्शन (इन्ट्रोस्पेक्शन) अपनी भीतरी शारीरिक अवस्थाओ को देखना है, जैसे कहे, मेदे के तेजाव को।"[१०] यह इस सास्कृतिक दृष्टि को स्पष्टतम स्थापना है और यह उस सम्पूर्ण युगबोध का प्रतिनिधित्व करती है जो विज्ञान के सब क्षेत्रो मे प्रसार के रूप मे परिलक्षित होता है। अन्यथा भौतिक घटनाओ का अस्तित्व स्वत सिद्ध कैसे है? कोई बात क्या स्वत सिद्ध भी होती है? किन्तु तब भी यह स्वत सिद्ध है, हम यह स्वीकार करते है, क्योकि यह वैज्ञानिक सस्कृति की पूर्वप्रतिज्ञाओ से अनिवार्यत अर्थापतित होता है। एक बार ये पूर्वप्रतिज्ञाए स्वीकार करली जाय तब सब जगत् के लिये मात्रात्मक सत् मे रूपातरित होना अनिवार्य हो जाता है "मन" के लिये अनिवार्य है कि वह "व्यवहार"[११] मे स्थापित हो और अन्तत परमाणवीय सख्याओ मे विघटित हो,[१२] धर्म नृतत्ववैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक प्रतिपत्तियो मे चरितार्थ हो और कला, मूल्य और सस्थाए समाज वैज्ञानिक अध्येता की मात्रात्मक कल्पनाओ (कान्स्ट्रक्टस्) के विषय बने।[१३]

× × ×

मानसिकता की कोटि का निरास विज्ञान के लिये अनिवार्य नही है, अर्थात् मानसिक तत्व का भी विज्ञान सभव है। वास्तव मे योग मनस्तत्व का ही एक विज्ञान है। किसी व्यवस्था के विज्ञान होने के लिये आवश्यक है उसके विषयो मे घटनात्मक नियमितता देखना और इस नियमितता के विनियोग की विधि का निर्माण करना। योग मे ये दोनो बाते देखी जा सकती है। हमने पुराण अध्याय मे ज्योतिष-विज्ञान की चर्चा भी की थी जिसके विषय कर्म-

---

१० क्वाईन वर्ड एड ऑब्जेक्ट, पृ० २६४, तथा "दि मेटल एटिटीज" प्रोसीडिग्स आफ अमरीकन ऐकेडेमी आफ आर्ट्स एण्ड साइन्सेज, १९५३, पृ. १९८-२०३, इस पर हमारी आलोचना के लिए द्रष्टव्य, ज्ञान और सत् मे "मानसिक और भौतिक" अध्याय।

११ कार्नप-साइकोलोजी इन फिजीकल लेंग्वेज, एयर द्वारा सपादित लोजीकल पाजिटिविज्म में।

१२ द्रष्टव्य कार्नप, मिनेसोटा स्टडीज, वही, पृ० ६९

१३ द्रष्टव्य–एन्साइक्लोपीडिया आफ यूनीफाइड साइन्सिज।

फलात्मक घटनाए है। किन्तु विज्ञान की यान्त्रिकतावादी-भौतिकतावादी अवधारणा के लिये न केवल मनोजगत् ही एक समस्या है बल्कि जैव जगत् और रसायन-जगत् भी समस्या है, क्योंकि जैवजगत् मे यान्त्रिक के बजाय लक्ष्योन्मुख स्वभाव व्यक्त होता है और रसायन जगत् मे नव्योत्क्रान्त गुण यान्त्रिक अवधारणा को चुनौती देते है। यान्त्रिकतावादी अवधारणा के लिये "नव्योत्क्रान्ति" क्यो एक समस्या है यह देखना रोचक होगा। "नव्योत्क्रान्ति" का अर्थ है कि यदि कोई द्रव्य द, अ, इ, उ, तत्वो मे तथा सम्बन्ध स मे विघटनीय है तब अ, इ, उ तत्वो मे पृथक्त जो गुण विद्यमान होते है उनमे अथवा अ, इ, उ तत्वो तथा उनके विशिष्ट सम्बन्ध स मे द के सम्पूर्ण गुणो को निगमित नही किया जा सकता, अथवा कहे कि, द के कुछ गुण इसका घटक तत्वो मे विघटन करते ही समाप्त हो जाते है। इतना ही नही बल्कि किसी तत्व अ के भौतिक गुणो को सम्पूर्णत जानने पर भी उससे यह अनुमान भी नही किया जा सकता कि वह इ अथवा उ अथवा दोनो के साथ सयुक्त भी हो सकता है या नही। द के इस अनिगमनीय गुण अथवा गुणो को नव्योत्क्रान्त गुण कहते है। जल इसका एक उदाहरण है हाइड्रोजन तथा ऑक्सीजन अणुओ मे, तथा इनके मिश्रण मे ऐसा कुछ नही है जिसमे जलत्व के कुछ विशिष्ट गुणो—गीलापन तथा प्रवहमानता—को निगमित किया जा सके। अब यह तथ्य हमारी यान्त्रिकतावादी बुद्धि (अडरस्टेंडिंग) को एक चुनौती है जो व्याख्या और भविष्योक्ति को एक स्तर पर देखती है और जो "नव्योत्क्रान्त" का अपनी व्यवस्था मे कही आकलन नही कर सकती। किन्तु यह इसके लिये वास्तव चुनौती नही है, क्योकि यह स्थिति ज्ञान की अपर्याप्तता की स्थिति मानी जा सकती है, अर्थात् यह माना जा सकता है कि अणुओ के ऐसे नियम खोजे जा सकेंगे जिनसे ये गुण, जिन्हे हम अभी तक नव्योत्क्रान्त कहते है, निगमित किये जा सके। कठिन चुनौती इसे जैव जगत् से है जिसमे कारण पुरोगामी न होकर अनुगामी होता है, अथवा अधिक उचित रूप से, जिसमे कोई कारण-कार्य सम्बन्ध नही होता। इसमे घटना अनुगामी घटना की कारण तो होती ही नही, यह भी कहना अनुचित है कि अनुगामी घटना पुरोगामी की कारण होती है, यहा यह कहना उचित है कि घटनाओ मे एक अपेक्षात्मकता रहती है, जो जैव घटनाओ का विलक्षण गुण है और यान्त्रिक अवधारणा मे अनन्तर्भाव्य है।

जैसाकि हमने कहा, विज्ञान के लिए यह अनिवार्य नही है कि वह

यान्त्रिकतावाद को एकमात्र प्राक्कल्पना स्वीकार करे, यदि विज्ञान के लिए कोई एक प्राक्कल्पना आवश्यक है तव वह कोई अन्य भी हो सकती है। किन्तु पाश्चात्य विज्ञान[१४] का केन्द्र भौतिक स्वरूपात्मक वस्तुसत् था, इसलिये उसने जैव जगत् के इन गुणो को भी केवल अस्थायी स्थिति के रूप मे ही स्वीकार किया, डार्विन के "उपयोग-अनुपयोग", "चुनाव" और "प्रयोजन" की अवधारणाए क्रमश. छोड दी गई और उन्हे जीव-कण की यान्त्रिकीय-साख्यि-कीय (मेकेनिस्टिक-स्टेटिस्टिकल) कल्पनाओ से स्थानान्तरित किया गया।[१५] इसके पश्चात् प्राणी को उसके देकार्तीय स्वरूप (यन्त्र) मे स्थापित करने मे अधिक कठिनाई नही थी, उसकी स्वतन्त्र क्रियाए उसके प्रोटोप्लास्म और साइटोप्लास्म के परिणामो के रूप मे और शेप उद्दीपनो के प्रति उसकी वैद्युत्-रासायनिक प्रतिक्रियाओ के रूप मे कल्पित की गई।[१६]

तव मानव ? जिसे "विवेकशील प्राणी" के रूप में परिभाषित किया गया था ? मूल्यान्वेपण यदि "मौलिक" गुण नही है तव विवेक केवल "भूल-भुलैये मे पुरस्कारक सरणियो के साथ स्वीकारात्मक प्रतिक्रिया की स्थापना" के सिद्धातानुसार व्याख्येय हो जाता है और इस प्रकार मूषिक और मनुष्य मे पृष्ठोन्मुखी तारतम्य स्थापित हो जाता है। बुद्धि-भागफल (आई क्यू) परीक्षण, परिवेश-अनुकूलन-परीक्षण तथा समस्या-समाधान-परीक्षण आदि पूर्णत. मात्रात्मक-यान्त्रिक मनोवैज्ञानिक अवधारणाए मानव की यन्त्र-कल्पना के स्पष्ट प्रमाण हैं। यद्यपि इन परीक्षणो की अप्रतिष्ठितता असन्दिग्ध रूप से प्रमाणित हो चुकी है किन्तु मानव की अन्य कोई कल्पना पाश्चात्य सास्कृतिक पूर्वकल्पनाओ के साथ सगत नही होने के कारण इनका परित्याग

---

१४ 'विज्ञान' के साथ 'पाश्चात्य' विशेषण शायद कुछ लोगो को चौकाने वाला लगे, क्योकि विज्ञान को सामान्यत सार्वभौम माना जाता है। किन्तु जैसाकि हमारे उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है, विज्ञान का पश्चिम मे विकसित रूप उसकी विशिष्ट सस्कृति की उपज है।

१५ इस प्रसग मे द्रष्टव्य • डोन्सहेम्काई : जेनेटिक्स एण्ड दि ऑरिजन आफ स्पेसीज, (कोलबिया), तथा यशदेव शल्य-मनस्तत्व, हिन्दोस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद।

१६ मार्गन एण्ड स्टेलार्ज–फिजियोलोजीकल साइकोलोजी, (मैक्ग्राहिल) तथा टिन्बर्जन, ए स्टडी आफ इ स्टिंक्ट, (आक्सफर्ड)।

सम्भव नही है, इसलिये इन परीक्षणो की असफलता का कारण स्वय अव-धारणा मे दोष को नही मानकर परीक्ष्य-चरो (वेरीयेबल्ज) के निर्धारण की अपूर्णता को मान लिया जाता है। किन्तु इस प्रकार से किसी भी व्यवस्था की रक्षा की जा सकती है, पौराणिक की भी, इसलिये मुझे यह कहने मे तनिक भी सकोच नही है कि विज्ञान पुराण का समकक्ष है।

मानव की यत्र-कल्पना पश्चिमी विज्ञान की तात्विक निर्धनता से अर्थापतित होती है। जैसाकि हमने आगे धर्म अध्याय के अन्त मे देखा है, इसका सत्ता-सन्दर्भ ज्यामितिक बिन्दु, वेग और द्रव्यमान तक सीमित है और इसका अर्थ-सन्दर्भ ऐन्द्रिय प्रदत्तो तक। यह मूल्य और आदर्श को, जिनमे सत् और अर्थ के अत्यन्त समृद्ध तहखाने है, और इस प्रकार जो मानव-प्रतिमा को अनेक आयाम और विविध वर्ण देते हैं, स्वीकृति नही देकर मनोदैन्य का कारण हो रहा है।

(इसका अर्थ यह नही है कि पश्चिम मे और कोई विचारधारा ही नही है, कुछ जर्मन मनोवैज्ञानिक यन्त्रवाद को स्वीकार नही करते, जुग तो धर्म को मूल भाव ही मानते है, दर्शन मे अस्तित्ववाद विज्ञानवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया है और अत्यन्त गहरी प्रतिक्रिया। किन्तु तब भी मुख्य स्वर अभी भी वैज्ञानिकतावाद ही है। इसका अन्त पाश्चात्य सभ्यता के पतन के रूप मे होगा या रूपान्तरण के रूप मे, यह अनुमान करना हमारा कार्य नही है।)

६

नैतिक मूल्य

नीति की न्यूनतम परिभाषा 'कर्त्तव्याकर्त्तव्य का क्षेत्र' यह दी जा सकती है और 'कर्त्तव्य' का अर्थ 'उचित कर्म' किया जा सकता है। 'कर्म' के अन्तर्गत शारीरिक के अतिरिक्त मानसिक का भी समावेश किया जा सकता है—मनसा, वाचा, कर्मणा शुभ करने का उपदेश बहुत पुराना है। अपने इस न्यूनतम रूप मे यह परिभाषा निर्विवाद रूप से स्वीकृत हो सकती है, यद्यपि कुछ लोग इसमे 'मानसिक' का, 'भाव-विचार' का, समावश नही करना चाहेगे। इस परिभाषा की कठिनाइया उस समय उत्पन्न होती हैं जब हम 'उचित' और 'कर्म' शब्दो के अर्थो पर विचार करना आरभ करते हैं। किन्तु तब भी कुछ दूर तक इनके अर्थो की व्याख्या मे बिना विवाद के आगे बढ़ा जा सकता है—ज्ञात प्राणियो मे केवल मनुष्य के व्यवहार या क्रियाओ को ही 'कर्म' कहा जा सकता है, अन्य किसी प्राणी की क्रिया को 'कर्म' नही कहा जा सकता, और 'उचित' या 'अनुचित' विशेषण केवल 'कर्म' के साथ ही प्रयुक्त हो सकते हैं, अन्य क्रियाओ या व्यवहारो के साथ नही। इस बात मे भी सब सहमत होगे कि मानव की सब क्रियाए "कर्म" नही होती और परिणामत वे "उचित", "अनुचित" भी नही होती।

परिभाषा की यह सहमति इससे तनिक भी आगे नही जाती, यहा तक कि इस बारे मे भी सहमति नही है कि क्रियाओ का क्या गुण उन्हे 'कर्म' बनाता है। वास्तव मे जितनी सहमति हमने देखी है उतनी भी प्रकट रूप मे ही है, वास्तव नही है, क्योकि 'उचित' और 'कर्म' की अधिकाश अर्थापत्तिया 'कर्म' को 'क्रिया' से भिन्न नही करती। तो भी समवत प्रकट स्तर पर सब यह स्वीकार करेंगे कि 'साभिप्राय' का अर्थ है ज्ञान और प्रयोजन के साथ।

इस परिभाषा की कुछ कठिनाइया हैं जिन पर हम आगे विचार करेंगे, किन्तु तब भी इस परिभाषा को स्वीकार किया जा सकता है। यह परिभाषा पाशव क्रियाओ तथा मनुष्य की अनेक क्रियाओ को 'कर्म' के वाच्य-क्षेत्र से निकाल देती है। किन्तु 'ज्ञान और प्रयोजन' पद को जिस अर्थ मे सामान्यत स्वीकार किया जायगा हम यहा उस अर्थ मे इसका प्रयोग नही कर रहे हैं। सामान्यत इसका अर्थ होगा, क्रिया के लक्ष्य का ज्ञान और लक्ष्य-सिद्धि के साधनों का ज्ञान, आदि। किन्तु जैसाकि हम आगे देखेंगे, यह गुण क्रिया को पर्याप्त रूप से कर्म का स्तर नही देता। इसलिये 'ज्ञान' से हमारा अर्थ यहा "क्रिया के कर्त्ता होने के बोध" से है।

इस प्रकार, 'मानव कर्म करता है' का अर्थ है कि वह अपनी क्रियाओं का साक्षी होता है। क्रिया का यह साक्षित्व—कर्तृत्वाभिमान—उसे कर्त्ता के पद पर प्रतिष्ठित करता है, उसे "क्रिया के कारक" मात्र से "क्रिया के लिये उत्तरदायी" बनाता है।

एक अर्थ मे 'उत्तरदायित्व' शब्द भ्रामक हो सकता है। 'उत्तरदायी' का अर्थ हो सकता है पुरस्कार और दण्ड का अधिकारी। किन्तु यह अर्थ सही नहीं है, क्योकि दण्ड और पुरस्कार, प्रस्तुत अर्थ मे, कर्त्ता को कर्त्ता से इतर कोई देता है। इस अर्थ को पुष्टि सामाजिक दण्ड-नियमो अथवा प्रशसा-निन्दा से भी मिलती है जिनका पात्र केवल कर्त्ता अथवा उत्तरदायी को ही समझा जाता है, अबोध को नही। कर्मवाद की भी कुछ व्याख्याओ मे यही धारणा निहित है। किन्तु वास्तव मे यह सही नही है, क्योंकि उत्तरदायित्व केवल अपनी क्रियाओ के साक्षित्व से ही आता है, क्रिया का यह साक्षित्व कर्त्ता से अपने को व्याख्यायित करने की माग करता है, जिस व्याख्या के सन्दर्भ मे निरूपित होकर कर्म 'उचित' के विशेषण से मडित होता है और उससे भ्रष्ट होकर 'अनुचित' के विशेषण से। सामाजिक या दैविक दण्ड और पुरस्कार कर्तृत्वाभिमान (मैं कर्त्ता हू) के अर्थ-बोध से उत्पन्न उत्तरदायित्व के एक प्रकार से विपरीतार्थक हैं, क्योकि ये व्यक्ति पर बाहर से उत्तरदायित्व लादते हैं, जैसे मानिये ढोर के खेत मे जा घुसने पर उसे डडा मारा जाता है। किन्तु इसे एक दूसरे अर्थ मे भी समझा जा सकता है—व्यक्ति जबकि इस अर्थ-बोध में समर्थ है, वह प्राय ही या तो इस ओर देखता ही नही अथवा देख कर उसका अर्थ समझने मे असमर्थ रहता है, अथवा अर्थ जानकर भी उसमे प्रवृत्त नही

होता, उस अवस्था मे उससे अधिक अनुभवी, अधिक विज्ञ सामाजिक अति-व्यक्ति अपने इस बोध का आरोपण उस पर करता है। इस प्रकार, यद्यपि सामाजिक पुरस्कार और दड कर्त्तृत्वाभिमान की, वैयक्तिक चेतना की, असामर्थ्य को पूर्वकल्पिक करते है किन्तु स्वय ये इसी अर्थ-बोध के परिणाम होते हैं। ये सामाजिक पुरस्कार और दड भी इस अर्थ मे सामाजिक नही होते कि ये सामाजिक सम्बन्धो के निर्देशक होते हैं, क्योकि ये अत्यन्त निभृत वैयक्तिक आदर्शो और मूल्यो के भी पुरस्कारक होते हैं, ये इस अर्थ मे सामाजिक होते है कि इनका अधिष्ठान सास्कृतिक कर्त्तृत्वाभिमान होता है।

'कर्म' के इस अर्थ मे 'औचित्य-अनौचित्य' उसके अर्थ के घटक हैं, अर्थात् कोई कर्म ऐसा नही हो सकता जो उचित या अनुचित नही हो, अथवा कहे, जिस क्रिया को उचित या अनुचित नही कहा जा सकता उसे कर्म नही कहा जा सकता।

इस दृष्टि से 'उचित' और 'अनुचित' शब्द 'सत्य' और 'असत्य' के समान हैं जो ज्ञान-विषयो के अर्थ-घटक होते है। विषयो का सत्यासत्यत्व एक निश्चित कसौटी पर पूरा उतरने मे है। इस प्रकार से, कसौटी या प्रतिमान प्रकट रूप से विषय-बाह्य होते है। किन्तु वास्तव मे कसौटिया या प्रतिमान विषय-बाह्य नही होते, विषय अपनी उत्पत्ति के साथ ही अपने सत्यासत्यत्व की कसौटी को भी जन्म देता है।[1] उदाहरणत 'यह मेज है' ज्ञानात्मक निर्णय है और मेज इसमे विषय है, अब यह निर्णय सत्य है यदि यह प्रस्तुत 'मेज होने' की कसौटी को सन्तुष्ट करता है। यह कसौटी मेज के विषय-बोध की घटक है, उससे पृथक् नही है। यदि इस कसौटी को बदल दिया जाय तब इस विषय का स्वरूप भी बदल जायगा। उदाहरणत वैज्ञानिक कसौटी और पौराणिक कसौटी भिन्न-भिन्न होती हैं और परिणामत उनके विषय भी भिन्न-भिन्न होते हैं। (जैसाकि "पौराणिक मनोवृत्ति" और "प्राकृतिक विज्ञान" अध्यायो मे निरूपित विषयो के स्वरूप से देखा जा सकता है।[2])

इसी प्रकार से कर्मों के लिये भी—कर्मों के औचित्य-अनौचित्य की कसौटी इस अर्थ मे प्रत्येक कर्म से बाह्य होती है कि प्रत्येक कर्म को उस

१ यशदेव शल्य—ज्ञान और सत्, अ ३।

२ ज्ञान और सत् मे अध्याय ४, ५, तथा ८ भी द्रष्टव्य।

कसौटी को सन्तुष्ट करना होता है, किन्तु तब भी वह उसकी घटक होती है, क्योकि कर्म ही इस कसौटी को जन्म देता है और कसौटी-भेद के साथ कर्म मे स्वरूप-भेद हो जाता है। उदाहरणत "चौर-कर्म" अथवा "असत्य-भाषण" के अनौचित्य की कसौटी "लोभ" अथवा "कामुक वृत्ति" के अनौचित्य से भिन्न है, प्रथम मे कर्त्ता अपने को अन्य कर्त्ताओ के बीच पाता है जबकि दूसरे मे कर्त्ता का कर्म अन्य कर्त्ताओ को प्रभावित नही करता—जबतक कि यह कर्म मानसिक स्तर तक ही रहता है। सभवत यह कहा जाय कि कोई ऐसा कर्म नही है जो अन्यो को प्रभावित नही करता। यदि कोई ऐसा कहता है तो वह "प्रभाव" शब्द का प्रयोग अत्यन्त व्यापक अर्थ मे कर रहा है, उसके अनुसार यदि मैं एकात वन मे रहता हू तो भी मेरे विचार मेरे व्यक्तित्व को प्रभावित करेंगे और व्यक्तित्व विश्व की समग्रता मे एक अ श होने के कारण विश्व की समग्रता को प्रभावित करेगा। 'प्रभाव' का यह अर्थ यहा अप्रासगिक है, क्योकि एक तो यह केवल कर्म की ही विशेषता नही है और दूसरे, कर्त्ता अपने ऐसे कर्मो के औचित्य को अन्य कर्त्ताओ के परिप्रेक्ष्य मे नही आकता। यदि मै अत्यन्त भीरुता के कारण अपने लोभ को कभी चौर-कर्म मे परिणत नही कर पाता, अथवा यदि मै अपने धन से निरन्तर अपनी जिह्वा को सन्तुष्ट करने मे प्रवृत्त रहता हू, तो कम से कम कुछ अवस्थाओ मे, मेरे कर्म के औचित्य की कसौटी अन्य कर्त्ताओ के मध्य मेरे कर्त्तृत्व से निर्धारित नही होती, किन्तु तब भी ये कर्म "उचित" अथवा "अनुचित" होते है।

कुछ कर्म ऐसे हैं जो "औचित्य" या "अनौचित्य" के सन्दर्भ मे घटित हो भी सकते है और नही भी हो सकने। उदाहरणत, मेरा कला-कर्म उचित है, किन्तु यह कुशल या अकुशल भी है। कर्म की ये दो अत्यन्त भिन्न प्रकार की कसौटिया हैं और परिणामत "एक कला-कर्म" अत्यन्त भिन्न दो विषयो के रूप मे रचित होता है। "उचित-अनुचित" केवल कर्त्तृत्वाभिमान का प्रसग है, अर्थात् क्रिया के कर्त्ता के अर्थ-बोध के प्रतिमान पर परखे जाने का।

× × ×

'कर्त्तृत्वाभिमान' या 'कर्त्ता का अर्थ-बोध' पद का अर्थ "नैतिक मूल्य" और "उचित" के स्वरूप को समझने के लिये आधार-भूत है। सब क्रियाए लक्ष्य-परक होती हैं, अर्थात् इनका जन्म अपेक्षामूलक होता है, और इस अपेक्षा के सन्तोषक विषय अथवा वस्तु अथवा अवस्था की प्राप्ति के साथ क्रिया

पर्यवसित हो जाती है। लक्ष्यपरकता ही "क्रिया" को "घटना" से अलग करती है। इस लक्ष्यपरकता मे कोई चेतनता या लक्ष्य का विचार होना आवश्यक नही है, निद्रित अवस्था मे खुजलाना तक एक क्रिया हे। कुत्ते का रोटी की खोज मे इधर-उधर घूमना भी एक क्रिया ही है, और एक प्रकार से निद्रा मे खुजलाने और भूख लगने पर भोजन खोजने मे कोई मौलिक अन्तर नही ह, क्योंकि भूख और खुजली दोनो स्वतोजात अपेक्षाए है और ये दोनो अपने सतोष के लिये चेतनता की अपेक्षा नही करती। वास्तव मे यह कहना कठिन है कि कुत्ता भोजन खोजते हुए उस अवस्था से कुछ मौलिक रूप से भिन्न अवस्था मे होता है जिसमे कि वह निद्रा मे खुजलाते हुए होता है। इनमे यह तारतम्य शरीरवैज्ञानिक दृष्टि से ही नही है बल्कि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी है—दोनो अवस्थाओ मे कुत्ते की चेतना प्रस्तुत-वृत्ति मे निहित होती है। अधिक से अधिक यह कहा जा सकता हे कि जागृत अवस्था मे वह प्रस्तुत वृत्ति मे पूर्णत निहित नही होती, किन्तु यह सुषुप्तावस्था मे भी एक ही वृत्ति मे निहित होनी आवश्यक नही है। मुख्य बात यह है कि स्वत इन अपेक्षाओ के स्वरूप मे कोई मौलिक अन्तर नही है। मानवीय क्रियाए पाशव क्रियाओ से कुछ भिन्न होती हैं। खुजलाई आदि की क्रिया मनुष्य और पशु मे एक ही स्तर की होती है, किन्तु मनुष्य मे भूख और भोजन के बीच का व्यवधान मानसिक दृष्टि से बहुत दीर्घ है। यह व्यवधान, कुछ अवस्थाओ को छोड कर, अपेक्षा को इच्छा का रूप दे देता है। अपेक्षा जब ज्ञान-विषय बनती है और अपेक्षित के रुचिर-अरुचिर-भाव-सयुत बिम्ब को जन्म देती है तब वह इच्छा बनती है। इस प्रकार से 'अपेक्षा' और 'इच्छा' मे एक गम्भीर अन्तर है। यह अन्तर मनुष्य को आवश्यकतानुसार शरीर-क्रिया को रोकने की सामर्थ्य देता है। इस सामर्थ्य के कारण ही मनुष्य अविहित कर्म (क्रिया) करने पर दड का भागी समझा जाता है। किन्तु तब भी यह अन्तर मौलिक अन्तर नही है, इसे जटिलता का अन्तर कहा जा सकता है, क्योकि कुत्ते को भी शरीर-क्रिया मे प्रवृत्त होने से रुकना सिखाया जा सकता है। आग्ल-अमरीकी मनोवैज्ञानिक और समाजवैज्ञानिक 'मूल्य' को 'तरजीह' या 'अभिरुचि' का ही पर्याय समझते हैं, उस अवस्था मे उनका मानव-मन सम्बन्धी निष्कर्षो को मूषिको पर प्रयोग के आधार पर स्थिर करना उचित ही है। इस प्रकार से इच्छा-पूर्ति-मूलक मानवीय क्रियाए क्रिया के स्तर से ऊपर नही उठ पाती।

कर्म विशिष्ट रूप से मानवीय, या कहे पाशवोत्तर, स्थिति है। इसका स्रोत आत्म-साम्मुख्य है। आत्म या अभिमान (ज्ञाता या कर्त्ता के रूप मे "मैं" का बोध) न केवल ऐन्द्रिय विषय ही नही है बल्कि बौद्धिक विषय भी नही है, यह विशिष्ट रूप से मूल्य-विषय है। इसका अर्थ यह नही कि यह प्रज्ञानात्मक (कोग्नीटिव) नही है, यह उतना ही प्रज्ञानात्मक है जितने अन्य विषय, यद्यपि यह केवल विरले लोगो को, या विरले क्षणो मे ही, स्फुट प्रत्यक्ष के समान दुर्निवार रूप से प्रस्तुत होता है। किन्तु भिन्न प्रकार का विषय होने से इसके अर्थाभ्युपगम (अर्थ के घटक तत्व) भिन्न प्रकार के होते है, जिस प्रकार से "गुरुत्वाकर्षण क्षेत्र" के अर्थाभ्युपगम "मेज" से भिन्न प्रकार के होते है। कर्त्तृत्वाभिमान का अर्थाभ्युपगम "अपने अस्तित्व की सार्थकता की जिज्ञासा" है। इसका प्रामाण्य इस प्रश्न के ऐसे समाधान मे है जो विशिष्ट रूप से इस प्रश्न के अनुरूप हो। जब इसका समाधान "ऋण कृत्वा घृत पिवेत" दिया जाता है तब इस प्रश्न का अभिप्राय गलत समझ लेने के कारण क्योकि, घृत भूख को या जिह्वा को तो सतुष्ट करता है, जीवन की सार्थकता की माग को नही। किन्तु ऋण लेकर घी पीने का यह परामर्श उत्तर इस प्रश्न का ही है, यद्यपि प्रश्न यह नही है कि भूख या आस्वाद-वासना कैसे तृप्त की जाय। इस पर आपत्ति की जा सकती है कि यह उत्तर भी "घी पीने का परामर्श" नही है, उत्तर यह है कि "जीवन का स्वरूप शरीरात्मक है।" किन्तु यह उत्तर भी प्रश्न को ठीक नही समझने का परिचायक ही होगा, क्योकि प्रश्न यह नही है कि जीवन का द्रव्य रूप क्या है ('जीवन' शब्द के किसी भी अर्थ मे) अथवा कि, जीवन किस द्रव्य से निर्मित है, बल्कि यह कि इस विशिष्ट विषय—अभिमान—की क्या व्याख्या है, किस पदावली मे यह समझा जाय।

उपर्युक्त परामर्श का एक और अर्थ भी हो सकता है, कि इस (कर्त्तृत्वाभिमान) के अर्थ की माग भ्रामक है, यह उस चीज की माग है जो है ही नही, शुभ, लोकोत्तर अथवा आत्मोत्तर-अन्वेष्य का कुछ अर्थ नही है, क्योकि है तो केवल दृश्यमान, है तो केवल लोक। यह उत्तर ठीक प्रश्न का है, किन्तु यह भ्रान्त उत्तर है।

अभिमान रूप यह विषय उतना ही ठोस रूप से है जितना कुछ भी अन्य विषय। विषय के होने का प्रामाण्य विषय स्वय है। हमने कहा, यह विषय मूल्यात्मक है, अर्थात् इसकी रचना सत्यात्य के सन्दर्भ मे नही होकर

उचित-अनुचित और चरितार्थ-अचरितार्थ के सन्दर्भ मे होती है। मूल्य द्रव्य या गुण नही होकर ऐसी अवस्था है जो न है और न नही है, यह है नहीं, क्योंकि यह प्राप्त अवस्था नही है, यह होने योग्य अवस्था है, यह नहीं है ऐसा भी नहीं, क्योंकि अन्वेषण उसे लक्ष्य कर अग्रसर होता है, यह हो जाने के लिये है। इसलिये चार्वाक जब कहते है कि यह असत्-वस्तु की माग है तब वे इस भ्रम मे हैं कि मूल्य सत् की माग होती है, यह क्रिया के लक्ष्य को और कर्म के लक्ष्य को घपलाना है। मूल्य अन्वेषक के वह होने की माग है जो वह (अन्वेषक) नहीं है, और क्योंकि यह अवस्था अपने हो जाने के रूप मे प्राप्तव्य है इसलिये वह कहीं विद्यमान नहीं होती।

इससे मूल्य-प्रत्यक्षवादियो (जैसे मूर)[3] की भूल भी देखी जा सकती है। मूर शुभ या उत्तम को वस्तु का गुण मानते है, यद्यपि अप्राकृतिक प्रकार का गुण। यह गुण उसी प्रकार से गम्य होता है जैसे प्राकृतिक गुण, यद्यपि यह इन्द्रियगम्य नही होता है। यद्यपि मूर गम्यता के इस स्वरूप को परिभाषित नही करते किन्तु वे इसमे कोई सन्देह नही रहने देते कि वह गुण प्रत्यक्षगम्य (अनैन्द्रिय प्रत्यक्षगम्य) है। किन्तु वास्तव मे 'उत्तम', 'शुभ' आदि उपयुक्त रूप से वस्तुओ के विशेषण ही नही होते, उपयुक्त रूप से ये कर्मों के ही विशेषण होते है। 'उत्तम' या 'शुभ' विशेषण जब वस्तुओ के साथ भी प्रयुक्त होते हैं तब केवल कर्म की प्रतिफल वस्तुओ के साथ ही प्रयुक्त होते हैं। 'सुन्दर' शब्द यद्यपि प्राकृतिक वस्तुओ के गुण के अर्थ मे भी प्रयुक्त होता है, किन्तु ऐसे प्रयोगो मे यह मूल्यार्थक नही होता। मूल्य के अर्थ मे 'सुन्दर' शब्द विशेषण के रूप मे नहीं सज्ञा के रूप मे प्रयुक्त होना उपयुक्त है। इस प्रकार से 'सौन्दर्य मूल्य है' का अर्थ है "सौन्दर्य चरिताार्थ्य" है। कर्त्तृत्वाभिमान इस मूल्यात्मक सौन्दर्य को ही कलाओ के माध्यम से, और अन्य विभिन्न प्रकार से, चरितार्थ करता है।

× × ×

काट ने 'कर्त्तव्य' को 'सार्वभौमिक उत्तरदायित्व' कहा है। किन्तु उसने इस सार्वभौमिकता की जैसी व्याख्या की है वह कसौटी को बाहरी भी बना

---

३ जी ई मूर फिलासफीकल स्टडीज मे कासेप्शन ऑफ इट्रिसिक वेल्यू लेख।

देती है और अप्रयोज्य भी। 'सत्य बोलना' यह कर्त्तव्य है और इस प्रकार से, उसके अनुसार, यह "सार्वभौमिक उत्तरदायित्व है"। 'सार्वभौमिक उत्तरदायित्व' का अर्थ है "सब के लिये सब समय कर्त्तव्य"। यह क्यो उत्तरदायित्व है ? काट का उत्तर होगा, क्योकि यह विवेकशील सकल्प (रैशनल विल) का विधान है। यह प्रतिपादन काट के इस प्रतिपादन के साथ रखने पर कि "ससार मे कुछ शुभ नही है सिवाय शुभ सकल्प के", काट हमारी स्थापना के बहुत निकट प्रतीत होते हैं, किन्तु तब भी वे सत्य-भाषण को, और इसी प्रकार से अन्य कर्त्तव्यो को, अनिवार्य कर्त्तव्यो के रूप मे स्थापित करते हैं और इस प्रकार से ये कर्त्तव्य आकारिक सिद्धात का रूप लेते हैं, जो सकल्प के विधान नही होकर स्वतन्त्र अनिवार्यताए हो जाते हैं। इसका स्पष्टीकरण मैं एक उदाहरण से करू गा—पत्रिका के सम्पादक के रूप मे मेरा कर्त्तव्य है कि मैं समीक्षा के लिये प्राप्त पुस्तको की समीक्षा निष्पक्ष व्यक्तियो से करवाऊ। एक बार एक लेखक ने अपनी पुस्तक भेजते हुए मेरे से अनुरोध किया कि मै उसकी दी गयी समीक्षक सूची मे से किसी के पास वह पुस्तक समीक्षार्थ भिजवा दू। मैंने उसे इन्कार कर दिया, जबकि मैं अन्यथा स्वय बहुत बार पुस्तक-लेखक से पूछ लेता हू कि उसकी पुस्तक किसे समीक्षार्थ भिजवा दी जाय। अब यहा मेरे कार्य मे प्रकट विरोध है, और कहा जा सकता है कि, इस प्रकार से मै विधान की सार्वभौमिकता का खडन करता हू। किन्तु यह ठीक नही है। यदि मैं ये आकारत विरुद्ध दो क्रियाए एक ही प्रयोजन की सिद्धि—निष्पक्ष और उत्कृष्ट समीक्षा प्राप्त करना—के लिये करता हू तब मैं वास्तव मे विवेकशील शुभ सकल्प के विधान का पालन करता हू, और वास्तव मे ये दो विरोधी क्रियाए तब गम्भीरतर स्तर पर एक ही कर्म हो जाती हैं। यही बात "सत्य-भाषण" के लिये भी है सत्य-भाषण क्या है ? यदि यह केवल विश्वासानुसार यथाभूत तथ्य का कथन मात्र है तब यह सापेक्ष दृष्टिकोण से यथारूप चित्र बनाने जैसी क्रिया है, और परिणामत यह न उचित है न अनुचित है। कर्त्तव्य के रूप मे सत्य-भाषण अत्यन्त जटिल मन स्थिति को पूर्वापेक्षित करता है। "असत्य-भाषण" का अनौचित्य कर्त्ता के इस बोध से उत्पन्न होता है कि यह कर्म उसको अपनी आदर्श-प्रतिमा को खडित करता है, यह उसे स्थिति-विशेष का सामना करने के अयोग्य और अतएव भीरु प्रमाणित करता है। यदि स्थिति-विशेष मे असत्य-वादन से यह आदर्श-प्रतिमा खडित

नही होती तब असत्य-भाषण अकर्त्तव्य नही है। यहा स्वभावतः उन व्यक्तियो के सम्बन्ध में नही कहा जा रहा है जो उस जटिल मन स्थिति के अयोग्य हैं जो उत्तरदायित्व की पूर्वापेक्षा है। असत्य-भाषण के औचित्य और अनौचित्य के दो उत्कृष्टतम उदाहरण हमे महाभारत से मिलते हैं—कृष्ण अनेक बार असत्य-भाषण करने पर भी योगीराज रहे और युधिष्ठिर एक बार असत्य-भाषण से ही अपना उत्कर्ष खो बैठे थे, और उनका रथ, जो उनके निरपवाद रूप से सत्य-भाषण के कारण भूमि से चार अगुल ऊपर रहता था, पृथ्वी पर आ गया था। युधिष्ठिर का उत्कर्ष समाप्त होना वास्तव में उनकी अपनी प्रतिमा का अपने सम्मुख खडित होना था, इससे व अपने स्वय के सम्मुख अपराधी घोषित हो गये। यह उनके उस अन्तर्द्वन्द्व और आत्म-ग्लानी से स्पष्ट है जो 'नरो वा कुजरो वा' कहने मे प्रकट हुई।

जैसाकि हमने कहा, असत्य-भाषण से उस व्यक्ति की प्रतिमा खडित नहीं होती जिसकी प्रतिमा आदर्श के उन्नत बोध से मडित नही है, अथवा कहे, जिसके कर्त्तृत्वाभिमान का अर्थ स्फुट नही हुआ है, किन्तु कृष्ण की प्रतिमा भी खडित नही हुई थी, जबकि वे योगीराज थे—अर्थात् जबकि उनके कर्त्तृत्वा-भिमान का अर्थ स्फुटतम था। वह इसलिये खडित नही हुई क्योकि उन्होने अपने सकल्प को पूर्णत विवेक मे प्रतिष्ठित किया था। जो अपने सकल्प को विवेक मे प्रतिष्ठित कर सकता है उसका सकल्प पूर्णत. आत्म-विधायक होता है, वह किसी सिद्धान्त के आकार मे नहीं बधता। काट ने विवेक-जनित स्वातन्त्र्य को स्वीकार करके भी आकार के बधन को उसके ऊपर प्रतिष्ठित कर दिया। यही कारण है कि शिलर काट के प्रतिपादन की अर्थापत्ति निकालते हैं कि "जो अपने पडोसी से प्यार करता है वह उसके प्रति कर्त्तृव्य-पालन नही कर सकता" और इसके विपरीत कोर्नर कहते है कि "काट का वास्तव अभि-प्राय था कि कोई पडोसी से, और मानव से भी, घृणा करते हुए भी उसके प्रति कर्त्तव्य-पालन कर सकता है।"[४] काट की ये दोनो ही व्याख्याए इस बात की द्योतक हैं कि काट केटेगोरीकल इपेरेटिव को आकारिक अनिवार्यता के अर्थ में ही देखते हैं और उसे विवेकशील सकल्प के ऊपर प्रतिष्ठित करते हैं। किन्तु पडोसी के प्रति मन मे प्रेम रखना उतना ही कर्त्तृव्य है जितना

४ कार्नर-काट, पृ १३१, पंग्विन।

उसका हित करना, कर्त्तृत्वाभिमान के लिये दोनो बराबर कर्म है, कर्त्तृव्य-बाध केवल मोहवश होने मे है, क्योकि उसमे स्वातन्त्र्य, जोकि कर्त्तृत्व की पूर्वापेक्षा है, बाधित होता है। यहा "सहानुभूति" का रूप देखना उपयोगी होगा। "सहानुभूति" एक नैतिक वेदना है, वेदना होने से यह सवेगात्मक ही है, किन्तु तब भी उससे मूलत भिन्न है। यह भेद इसके प्रभाव मे ही नही है, अपने निजी गुण में भी है। यह दूसरे के दु ख से जन्य ताप है, यह पर-दु ख को अपने मे स्थापित करना है, और दु ख का कारण अपने मे नही होने से यह दु ख उन्मोचक होता है। दु ख और महानुभूति क्रमश दाह और प्रकाश-तुल्य होते हैं।

इस पर आपत्ति की जा सकती है कि 'पडौसी से प्रेम करने' और 'पडोसी का हित करने' को एक ही स्तर पर ही रखा जा सकता, एक प्रकार से 'पडौसी से घृणा करने' को अकर्त्तव्य भी नही कहा जा सकता, क्योकि अकर्त्तव्य उसी कर्म को कहा जा सकता है जिसे करने से कर्त्ता अपने को रोक सकता हो। यदि मेरे मन मे पडौसी को देख कर घृणा उत्पन्न होती है तब मैं उसे उत्पन्न होने से रोक नही सकता, केवल उस ओर से तत्काल के लिये ध्यान हटा सकता हू। यह प्रश्न मूर[5] ने उठाया है और इसे कर्त्तव्य से भिन्न करने के लिये "आदर्श कर्त्तव्य" कहा हैं, जबकि बाह्य कर्म को "वास्तव-कर्त्तव्य" कहा है। किन्तु यह भेद भ्रामक है, मै पडौसी से घृणा करते हुए भी जो उसके हित मे प्रवृत्त होऊगा वह इस बोध मे कि पडौमी का हित करना उचित है, अर्थात् मैं घृणा से प्रेरित कर्म का बाध करूगा, यह बोध अधिक उन्नत स्तर पर लेजाने पर मैं अपनी घृणा का भी निरास कर सकता हू, क्योकि पडौसी के प्रति घृणा जिस कारण से हुई है मै जैसे ही उस कारण को और अपने को एक दूसरे परिप्रेक्ष्य मे देखूगा वैसे ही यह कारण घृणा-जनक नही रहेगा। कृष्ण जब अर्जुन मे सब कर्मो को भगवत्-समर्पण करने को कहते हैं तब यह परिप्रेक्ष्य के इस परिवर्तन की माग ही है, वहा वे मूर से उलट "प्रकट अकर्त्तव्य" करने का परामर्श देते हैं और "आदर्श अकर्त्तव्य" से उपरत होने को कहते हैं। जैसे ही अर्जुन कौरवो को विराट् के ग्रास के रूप मे देख लेता है उसकी ग्लानि

---

5. जी ई मूर-फिलोसफीकल स्टडीज मे दि नेचर आफ मॉरल फिलोसोफी लेख, पृ० ३२० मे आगे।

जाती रहती है, क्योकि अब उसको नया बोध प्राप्त होगया है।

किन्तु तब भी मूर का कथन इस सीमा तक ठीक है कि एक विशिष्ट भाव जब उत्पन्न होता है उसके पूर्व में उसके निरोध मे समर्थ नही होता हू, क्योकि उत्पन्न होने से पूर्व उसका निरोध नही हो सकता। बाह्य कर्म का निरोध इसलिये हो सकता है क्योकि उससे पूर्व उसके लिये प्रवृत्ति उत्पन्न होती है, उस प्रवृत्ति को भौतिक क्रिया मे परिणत होने से रोका जा सकता है। किन्तु कठिनाई यह है कि मूर इस सीमा से आगे नही देखते। ऐसी मनोवृत्ति इसलिये उत्पन्न होती है क्योकि कर्त्ता स्वातत्र्य मे सम्यग्रूप से अविष्ठित नही होता, उसकी यह असामर्थ्य उसे उसके कर्त्तव्य से वचित करती है। यदि वह पर्याप्त सजग है तो उसे इसके परिणाम-स्वरूप आत्मग्लानि होना स्वाभाविक है, उस अवस्था मे वह आत्म-शोधन करेगा और भविष्य मे वैसी वृत्ति का जन्म उसमे नही होगा—यदि मै अपने साथी के दोषो को अज्ञान का परिणाम देखता हू तब मुझे उससे घृणा के बजाय सहानुभूति उत्पन्न होगी, यदि तब भी मुझ मे उससे घृणा उत्पन्न होती है तब समझिये कि मैने इस विवेक का ग्रहण नही किया है, केवल मुझे शब्द-ज्ञान हुआ है।

वास्तव मे मूर ने बाह्य कर्म और आन्तर वृत्ति मे जैसा भेद किया है वह भी उतना ठीक नही है—स्वप्न मे तो इन दो मे कोई अन्तर रहता ही नही, उत्कट सवेग की स्थिति मे भी यह नही रहता। उत्कट सवेग की स्थिति मे अपनी शरीर-क्रिया को रोकने का अर्थ है सवेग की उत्कटता पर वश करना और इस प्रकार से विवेक को सवेग के ऊपर स्थापित करना।

× × ×

हमने औचित्य-अनौचित्य का स्रोत कर्त्तृत्वाभिमान (कर्त्ता के आत्मार्थ-बोध) को कहा। इसका अर्थ है कि यदि कोई अपने कर्म को उस अर्थ की कसौटी पर परखता है जिसमे वह अपने को परिभाषित करता है, तो वह अपने कर्म को "उचित" के सन्दर्भ मे देखता है, अन्यथा नहीं। उदाहरणत, उपर्युक्त सवेग-जन्य शरीर-क्रिया को लें, यदि मै इसका निरोध इसलिये करता हू कि क्रोध के वशीभूत होना मेरे आत्मार्थ के प्रतिकूल है तब मैंने निरोध औचित्य के सन्दर्भ मे किया, किन्तु यदि मै वह निरोध इसलिये करता हू कि इसके कारण मुझे दड का भाजन होना पडेगा, तब मैंने चातुरी अथवा व्यावहारिकता के सन्दर्भ मे किया। अधिकाशत हम अपने कर्म इस दूसरे सन्दर्भ

मे करते हैं। वास्तव मे इनका क्षेत्र भी बहुत व्यापक है और वे वैयक्तिक लाभ के ऐसे सूत्र हैं जो समाज के सदस्य के रूप मे व्यक्ति के हितार्थ निरूपित होते है। सूक्तियो मे ऐसी नीति का ही उपदेश रहता है, पचतत्र मे भी ऐसी नीतियो का ही निरूपण है। एक प्रकार से, सामाजिक दड-व्यवस्था भी हमे ऐसा कर्म-कौशल सिखाने के लिये ही होती है, क्योकि कोई कार्य इसलिये दडनीय होता है क्योकि वह कार्य अन्तत व्यक्ति के भी अहित मे होता है, चौर-कर्म इसलिये दडनीय नही है कि यह कुकर्म है, वल्कि इसलिये दडनीय है क्योकि यह क्रिया उस व्यवस्था को भग करती है जो प्रत्येक व्यक्ति के लिये, स्वय चोरी करने वाले के लिये भी, हितकर है। किन्तु इसका अर्थ यह नही कि सामाजिक नीति-विधान मूल्यात्मक नही होते, इसका अर्थ केवल यही है कि वे नही भी हो सकते। चौर-कर्म का उपर्युक्त सन्दर्भ व्यावहारिक नैपुण्य का सन्दर्भ है, किन्तु जब क के चोरी करने पर ख, ग, घ आदि उसकी निन्दा करते हैं तब यह कर्म नैतिक औचित्य के सन्दर्भ मे निरूपित होता है, क्योकि उस समय वे उसकी निन्दा ऐसे कर्म के रूप मे करते है जिसमे कर्त्ता उससे अपेक्षित अर्थ से भ्रष्ट पाया जाता है, अथवा कहे, जो कर्म सास्कृतिक कर्त्तृत्वाभिमान के प्रतिकूल पाया जाता है। इसमे सार्वजनिक लाभ का विचार मानक नही होता, सिवाय उन अवस्थाओ के जिनमे स्वय यह लाभ ही कर्त्तृत्व के अर्थ का निर्धारक होता है। उदाहरणत बौद्ध धर्म के उदय के बाद सहस्रो व्यक्तियो का छोटी आयु मे ही सन्यासी बनना, राजपूत स्त्रियो का सामूहिक रूप से आग मे जलना आदि अनेकानेक ऐसे उदाहरण दिये जा सकते है जिनका सामाजिक व्यवस्था या सार्वजनिक लाभ से कोई सम्बन्ध नही है, इनका सन्दर्भ एकमात्र सास्कृतिक कर्त्तृत्वाभिमान—सस्कृति का आत्मार्थ बोध—है। जब चौर-कर्म की निन्दा मे यह तर्क भी दिया जाता है कि "यदि सब ऐसा करने मे लगें तो सामाजिक व्यवस्था कैसे रहेगी," तब भी यह मूल्यानुवाद ही होता है, क्योकि "सामाजिक व्यवस्था भग करना" मूल्य का वैपरीत्य है, जबतक कि इसका किसी अन्य महत्तर मूल्य से अतिक्रमण नही होता।

इस प्रकार, सामाजिक सन्दर्भ मे व्यवहार की परीक्षा अधिकाशत मूल्यात्मक दृष्टि से ही होती है, किन्तु यह सन्दर्भ वैयक्तिक-सम्बन्धो का, अथवा व्यक्तिगत जीवन का, ही होता है। सामूहिक व्यवहार की परीक्षा दुर्भाग्यवश मूल्यात्मक दृष्टि से नही होती। उदाहरणत राजा, सरकार अथवा

राष्ट्र के लिये कोई कर्म उचित-अनुचित नही माना जाता, केवल निपुण-अनिपुण अथवा उपयोगी-अनुपयोगी माना जाता है। राजा के लिये राज्य का लाभ, अथवा अपने राष्ट्र का लाभ उसके कर्म का प्रमापक माना जाता है। यह वास्तव मे अत्यन्त जटिल प्रश्न है और इसके विस्तार मे हम नही जाना चाहेगे, किन्तु कुछ उदाहरण ऐसे भी मिलते है जब इस क्षेत्र मे भी नैपुण्य के ऊपर मूल्य की प्रतिष्ठा की गयी। अशोक और गाधी इसके दो उज्ज्वल उदाहरण हैं; रूस मे साम्यवादी सरकार स्थापित करने पर लेनिन का जारो द्वारा अपहृत विदेशी प्रदेश उन देशो को लौटाना इसका एक अन्य उदाहरण है, जिसने सामूहिक कर्म को पूर्ण रूप से औचित्य के सन्दर्भ मे प्रतिष्ठित किया गया।

× × ×

औचित्य का स्रोत कर्त्तृत्व के अर्थ-बोध को कहने से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि नैतिक निर्णय विषयिनिष्ठ होते है। किन्तु हमारी स्थापना से यह किसी प्रकार से अर्थापतित नही होता। वास्तव मे विषयनिष्ठ-विषयिनिष्ठ शब्दो का प्रयोग अधिकाशत इनको समझे विना होता है, परिणामत इस प्रसग को लेकर बहुत घपला है।

"विषय" क्या है ? इसका सहज उत्तर मन मे आता है कि मेज, कुर्सी, पुस्तक जो मेरे सम्मुख दिखाई दे रहे हैं, ये विषय हैं। अर्थात् ऐन्द्रिय प्रत्यक्षगत वस्तुए विषय हैं। किन्तु इस परिभाषा को थोडा ध्यान से देखने पर इसकी अपर्याप्तता स्पष्ट हो जायगी ऐन्द्रिय प्रत्यक्षगत मेज, कुर्सी, पुस्तक आदि नही होते, वर्ण, गन्ध, आस्वाद, ध्वनि आदि होते है। वर्ण-गध आदि भी विषय हो सकते हैं, किन्तु मात्र ऐन्द्रिय प्रत्यक्षगत वर्ण-गध आदि विषय नही हो सकते। 'आकाश की नीलिमा' मे नीलिमा विषय है, किन्तु इसका विषयत्व वर्ण की प्रत्यक्षता से नही है, यद्यपि प्रत्यक्षता इसके विषयत्व की एक घटक है, इसका विषयत्व "उन सब देखने वालो को नील दिखाई देने की सभावना मे" है "जिनकी दृष्टि निर्दोष" है। इस परिभाषा मे "सभावना" और "निर्दोष" शब्द समस्यात्मक हैं। किन्तु हम इस प्रश्न के विस्तार मे जाए बिना कह सकते हैं कि "सभावना" का अर्थ है "वस्तु का वह गुण जो प्रत्यक्षातिक्रामी है, जो प्रत्यक्षगत नही होता" और 'निर्दोष दृष्टि' का अर्थ है "वह दृष्टि जो वर्ण को अधिकाश देखने वालो के अनुरूप देखती है।" यह परिभाषा अत्यन्त स्थूल है, इसको सूक्ष्म विस्तार मे हम पिछले अध्याय (प्राक्-

तिक विज्ञान) मे दे आए है। प्रस्तुत प्रयोजन के लिये उपरोक्त परिभाषा पर्याप्त है। अब इस परिभाषा से स्पष्ट है कि ऐन्द्रिय विषयो का विषयत्व अतीन्द्रिय है—यह सर्जनात्मक मन का आक्षेप है जो प्रत्यक्षो को विषयत्व प्रदान करता है। इसके विना वर्ण आदि विशुद्ध रूप से "व्यक्तिगत', अथवा कहे "विषयिनिष्ठ", रहते है। यह रचना-तत्व उन नियमो के रूप मे व्यक्त होता है जो किसी निर्णय के युक्त-अयुक्त होने की कसौटी बनाते है। युक्तता के जितने सन्दर्भ होते है उतने ही प्रकार के विषय होते है, इस प्रकार से प्रत्यक्षगत विषय एक प्रकार के विषय है और धार्मिक, नैनिक, वैज्ञानिक अन्य अनेक प्रकार के।[६] ये सब बराबर विषय है। किन्तु एक सन्दर्भ के अन्तर्गत भी नियम अथवा कसौटी एक ही प्रकार की होना अनिवार्य नही है, वे अनेक प्रकार की हो सकती है, अनिवार्यता केवल इस बात मे है कि एक कसौटी स्वीकार करने पर ही एक प्रकार के निर्णयो की युक्तता अर्थापतित होगी। उदाहरणत• प्रत्यक्षगत विषय वैज्ञानिक कसौटी पर और पौराणिक कसौटी पर रचित होते हैं, और अन्यान्य दूसरी कसौटियो पर भी रचित हो सकते हैं। इन कसौटियो के वैभिन्य से इन विषया की विषय-निष्ठता का खडन नहीं होता, क्योकि विषयनिष्ठता की कसौटी केवल सार्वजनिकता नही है। विषय-निष्ठता की कसौटी वे अर्थमूलक अभ्युपगम होते है जो उन सम्बन्धी निर्णयो को युक्त अथवा अयुक्त बनाते है—ज्ञान-विषयो को सत्य या असत्य और नैतिक विषयो को उचित या अनुचित। ये अर्थाभ्युपगम नियत होने पर निर्णयो का औचित्य-अनौचित्य या सत्यता-असत्यता नियत रहते हैं और सब के लिये समान रूप से स्वीकार्य होते हैं। किन्तु स्वय अर्थाभ्युपगम किसी से नियत नही रहते, एक सन्दर्भ मे ये अनेक हो सकते है। उदाहरण के लिये बुद्ध और कन्फ्यूशियस के नैतिक औचित्य के सन्दर्भान्तर्गत अर्थाभ्युपगम भिन्न-भिन्न थे, हिन्दू सस्कृति और मुस्लिम सस्कृति के भी अर्थाभ्युपगम (घटक अर्थ) भिन्न-भिन्न हैं, अर्थात् हिन्दू सस्कृति मे भाग लेने वाला व्यक्ति और मुस्लिम सस्कृति मे भाग लेने वाला व्यक्ति अपने कर्मो को व्याख्या और विनियोग भिन्न-भिन्न अभ्युपगमो के प्रसग मे करते है। किन्तु इन दोनो के कर्मो के

---

६. द्रष्टव्य ज्ञान और सत् मे प्रवेश, अ ४-५ तथा पीछे पौराणिकता और प्राकृतिक विज्ञान अध्याय।

औचित्य पूर्णरूप से विषयनिष्ठ हैं, क्योंकि ये औचित्य व्यक्तिगत रुचि और सुविधा से निर्धारित नही होते।[७]

ये अर्थाभ्युपगम सहज लब्ध भी हो सकते है और प्रतिपादित भी हो सकते है। मनुष्य जैसे ही मानवता का स्तर प्राप्त करता है वह कर्त्तृत्वाभिमान का साक्षात् करता है—व्यष्टिश. या जातीय समग्रता मे। समाज की आदिम अवस्थाओ मे वैयक्तिक व्यक्तित्व का स्फुट बोध नही रहता, इसलिये कर्त्तृत्वाभिमान का साम्मुख्य भी जातीय समग्रता मे ही होता है, अथवा कहे—जातीय कर्त्तृत्वाभिमान का ही साम्मुख्य होता है। उस समय इस विषय—कर्त्तृत्वाभिमान—के अभ्युपगम पूर्णत सहज-लब्ध होते हैं। पीछे, सास्कृतिक विकासक्रम मे, कुछ विलक्षण चेतना-सम्पन्न व्यक्ति इन अभ्युपगमो के विरुद्ध विद्रोह कर नये अभ्युपगमो का प्रतिपादन करते है, जो अन्यो के लिये सहज-लब्ध हो जाते हैं।

अभ्युपगमो को इस प्रकार से स्वत सिद्ध और औचित्य को इस प्रकार से सापेक्ष मानने के विरुद्ध आपत्ति की जा सकती है कि इसके अनुसार सब अभ्युपगम बराबर स्तर के हो जायगे और परिणामत. किन्ही स्थापित अभ्युपगमो के विरुद्ध विद्रोह यादृच्छिक हो जायगा। उदाहरणत. बुद्ध द्वारा हिन्दू कर्त्तृत्वाभिमान के स्थापित रूप को चुनौती देने की क्या युक्तता होगी, सिवाय

---

७ श्री चादमल ने नैतिक औचित्य को इस अर्थ मे सार्वभौमिक माना है कि औचित्य विषयक कोई निर्णय निरपेक्षत. उचित या अनुचित होता है। वे कहते है : "नैतिक तथ्यो का नैतिक दृष्टि से पर्यवेक्षण करने पर सभी नैतिक चिन्तक उनकी मूल्यात्मकता के बारे मे सदैव एक ही निष्कर्ष पर पहुचेंगे। इसी अर्थ मे नैतिक निर्णयो को सार्वभौम कहा जा सकता है।" (दार्शनिक त्रैमासिक, अक्तूबर १९६५) पृ २३१। उद्धृत वाक्य यद्यपि थोडा भ्रामक है, क्योकि यह पुनरुक्ति मात्र प्रतीत होता है, किन्तु चादमलजी यहा यही कहना चाहते है कि नैतिक-सदर्भ मे नैतिक तथ्यो पर निर्णय एक ही हो सकते है। यदि तथ्य त के सम्बन्ध मे निर्णय क सही है तो ख, ग सही नही हो सकते। हमारे विचार मे, नैतिक वस्तुस्थिति के सम्बन्ध मे यह एक अनुपयुक्त विवेचन है।

इसके कि वे इसके स्थापित रूप से असतुष्ट थे, अथवा कि उन्होने जिस कर्त्तृत्वाभिमान का साम्मुख्य किया उसके अभ्युपगम भिन्न थे ?

इसका अशत. उत्तर होगा कि, उनकी कोई युक्तता नही है सिवाय इसके कि उन्होने भिन्न परिप्रेक्ष्य मे औचित्य के सन्दर्भ को देखा था। किन्तु यह केवल अशत ही सही है, यद्यपि अशत सही यह अवश्य है। किन्तु इसके शेषाश को समझने के लिये प्रश्न की गहराई मे और नीचे उतरना होगा।

कर्त्तृत्व-बोध अथवा मूल्यात्मक कर्म-चेतना जबकि अपने चरितार्थन के लिये अनेक अभ्युपगमो का आश्रय लेती है, यह अपने अर्थ का सदैव स्पष्ट अथवा सम्यक् ज्ञान नही रखती। आत्मार्थ का सम्यक् ज्ञान जबकि प्रामाण्य-दृष्टि को भी न्यूनाधिक मात्रा मे ही प्राप्त होता है, मूल्यात्मक दृष्टि के लिये यह ज्ञान अत्यधिक दुर्लभ है। निस्सन्देह यह ज्ञान अनेक अभ्युपगमो द्वारा चरितार्थ हो सकता है, किन्तु इन अभ्युपगमो का अपना तर्क सदैव हमे पूर्णत ज्ञात नही होता, और बहुत बार अभ्युपगम भी भ्रान्त हो सकते हैं। उदाहरणत बुद्ध और ईसा के अभ्युपगम एक ही नही थे, किन्तु दोनो मे कर्त्तृत्व-दृष्टि की सम्यक्ता समान थी, राजाशाही और प्रजातन्त्र के अभ्युपगम एक ही नही हैं, किन्तु दोनो मे कर्त्तृत्व-दृष्टि की सम्यक्ता असम्यक्ता की बराबर सभावनाए हैं, यद्यपि प्रजातन्त्र समग्र अनुभव के अधिक समृद्ध स्तर की पूर्वापेक्षा करता है। अब, प्रजातन्त्र बोध के जिन अभ्युपगमो पर प्रतिष्ठित है उनकी सम्यक्तम दृष्टि हम गाधीवादी राज्य-व्यवस्था मे और गाधीवादी राजनैतिक आचार-सहिता मे पाते हैं, किन्तु गाधीजी से पूर्व यह किसी ने नही देखा था और न उनके बाद किसी ने उसे स्वीकार करने का साहस दिखाया है।

कर्त्तृत्व-दृष्टि बहुत बार भ्रान्त भी होती है और इसके भ्रान्त होने की सभावनाएं उससे कही अधिक रहती हैं जितनी प्रामाण्य-दृष्टि के, क्योकि कर्म का सम्बन्ध हमारे वासना-आवेगमय जीवन से कही अधिक घनिष्ठ है, जितना कि प्रामाण्य का। यह सम्बन्ध इतना निकट और घनिष्ठ है कि बहुत से विचारक मूल्य-दृष्टि को, जिसमे कर्त्तृत्व-दृष्टि एक भाग है, वासना और आवेग-मूलक ही मानते हैं। किन्तु जितना ही निकट का सम्बन्ध इनमे है उतना ही वैपरीत्य इनके स्वरूप मे है। प्रामाण्य-सन्दर्भ के अर्थाभ्युपगम वासनामूलक भी हो सकते हैं (पौराणिक प्रामाण्य-दृष्टि वासना-मूलक ही है), और यदि क्रिया-कारित्व के बौद्ध सिद्धान्त को माना जाय, तो सभी प्रामाण्य-

दृष्टिया वासनामूलक ही है। किन्तु मूल्य-दृष्टि अथवा कर्त्तृत्वाभिमान का बोध, अर्थत वासना का प्रतिषेधक है, क्योकि स्वातन्त्र्य कर्त्तृत्व-बोध की सम्यक्ता की पूर्वापेक्षा है। उदाहरणत अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्धो मे नैतिक दृष्टि, अन्य बातो के अतिरिक्त, स्वार्थ-त्याग अथवा आत्मबलिदान की भावना को जन्म देती है। अब, यदि आत्म-बलिदान को भी वासना मान लिया जाय तब दूसरी बात है, किन्तु अन्यथा यह वासना से ऊपर उठकर कर्म को विवेक मे प्रतिष्ठित करना है। उदाहरणत मैत्री को ले—'राम मेरा मित्र है' का अर्थ इसके ठीक विपरीत है कि "राम मेरा स्वार्थ-साधक है", बहुत कुछ इसका अर्थ है कि "मै राम का स्वार्थ-साधक हू।" यह ठीक है कि यदि राम मेरा मित्र है तो वह मेरा स्वार्थ-साधन भी करेगा, यदि वह उसका विपरीत करता है तो वह मित्र नही हो सकता, क्योकि इस प्रकार से उसका व्यवहार 'मित्र' के अर्थ का बाधक होगा, किन्तु मेरी उसके प्रति मित्रता का उसकी मेरे स्वार्थ-साधन मे उपयोगिता से कोई सम्बन्ध नही है। इसीलिए मित्रता के आदर्श के रूप मे सुदामा के प्रति कृष्ण के मित्र-भाव का उदाहरण दिया जाता है कृष्ण के प्रति सुदामा के मित्र-भाव का नही। यही बात राम के वन-गमन मे उदाहृत होती है दशरथ यदि राम को राज्य देते तो वे कर्त्तव्य का कोई विशेष परिचय नही देते, यदि उन्होने राज्य राम को नही दिया तो वे भयानक रूप से कर्त्तव्य-च्युत हुए। इस परिप्रेक्ष्य मे राम का दशरथ की आज्ञा का पालन राम के कर्म के गौरव को शतधा बढा देता है।

. वासना, प्रवृत्ति और सवेग का प्रतिषेध कर्त्तृत्वाभिमान के अभ्युपगमो का मुख्य घटक है। वासना, सवेग आदि का अपने विषयो से सम्बन्ध कारण-मूलक होता है और अतएव विषय इनमे नियामक होता है। इसके विपरीत, कर्त्तृत्व का विषय, जैसाकि हमने पीछे देखा, बोध का अपना स्वरूप है जो क्रिया के माध्यम से अपने को चरितार्थ करता है।

निश्चय ही व्यक्तियो के जीवन मे स्वातन्त्र्य के ऐसे क्षण विरले ही होते है, किन्तु ये क्षण ही नैतिक कर्म के क्षण होते है, शेष तो हम सास्कृतिक कर्त्तृत्व-बोध की अभिव्यक्ति के निमित्त मात्र बनते हैं।

७

धर्म का स्वरूप

धर्म का महत्व मानव-सस्कृति मे अद्वितीय है। भर्तृहरि का प्रसिद्ध श्लोक धर्म को ही मानव का अतिरिक्त लक्षण बताता है, उसके अनुसार शेष लक्षण तो मनुष्य और पशु मे समान ही होते है। बर्गसा[1] के अनुसार, आदिम-तम अवस्थाओ मे भी कोई मानव-समुदाय ऐसा नही है, और न रहा है, जो धर्म से रहित हो। इस प्रकार से कहा जा सकता है कि मानव का जन्म धर्म के साथ ही हुआ। किन्तु बर्गसा का यह कथन दार्शनिक कथन नही है, यह नृतत्ववैज्ञानिक कथन है। लेवी ब्रूह्ल, जिसे कि उसने अनेक बार अपनी पुस्तक मे उद्धृत किया है, और दुर्खीम, दोनो का ऐसा ही विचार है, और कहा जा सकता है कि यही विचार आज के अधिकाश नृतत्ववैज्ञानिको का है। किन्तु भर्तृहरि का कथन नृतत्ववैज्ञानिक कथन नही है, यह परिभाषात्मक कथन है, यह उस मानव-तन-धारी को पशु की कोटि मे रखने के लिये है जिसमे वे विशेष लक्षण नही है जिन्हे वे "धर्म" मानते हैं। धर्म का यह पारिभाषिक अर्थ है। यो अर्थ तो अधिकाशत पारिभाषिक ही होते है, और इस प्रकार से नृतत्ववैज्ञानिक भी जब कहता है कि मानवता के चिह्न जहा भी हमे मिलते है वहा धर्म के भी लक्षण मिलते हैं, तब उसका कथन भी बहुत कुछ वैसा ही होता है जैसा भर्तृहरि का। किन्तु तब भी एक गभीर अन्तर है, नृतत्ववैज्ञानिक मनुष्य के अन्य लक्षणो को मुख्य मान कर देखता है कि क्या उसमे धर्म के लक्षण भी हैं? जबकि भर्तृहरि धर्म से ही मानवता को परिभाषित करते हैं। एक अन्तर और है, नृतत्ववैज्ञानिक अपनी परिभाषा बहुत शिथिल और अनिश्चित रखता है और आवश्यकता के अनुसार उसका निरन्तर विस्तार करता जाता है। धर्म के इस विस्तृत अर्थ मे, वे सब

---

१ हेनरी बर्गसा—टू सोर्सेज आफ मारेलिटी एण्ड रिलीज्यन।

सस्थाए धार्मिक सस्थाए हैं जो पवित्र-अपवित्र, कार्य-अकार्य, देव-असुर और परलोक-चमत्कार विष-क धारणाओ को व्यक्त करती हैं। इस प्रकार से, वह धारणा धर्म है जो इन सस्थाओ को जन्म देती है। नृतत्ववैज्ञानिक इस धारणा के स्वरूप पर विचार नही करते, उनके विषय केवल सस्थाए और सस्थागत व्यवहार ही हो सकते हैं। वे यदि कभी इस धारणा की ओर देखते हैं तब इसे अन्धविश्वास (सुपरस्टिश्यन) अथवा अतार्किक मन स्थिति आदि कह कर सन्तुष्ट हो जाते है। इस धारणा पर विशेष विचार मनोवैज्ञानिक करते हैं, किन्तु सब विज्ञान अध्ययनगत वस्तुस्थिति को ऐसे तत्त्वो मे विश्लेपित कर समझना चाहते हैं जिनमे स्वय अध्ययनगत वस्तुस्थिति के लक्षण विद्यमान नहीं हो। यह भौतिक वस्तुस्थिति के अध्ययन मे चाहे जितनी भी उपयोगी विधि हो, मानवीय वस्तुस्थितियो मे यह विधि अत्यधिक अनुपयुक्त है। मानसिक वस्तुस्थितियो का वैज्ञानिक अध्ययन तो अत्यधिक अनुपयुक्त हो जाता है। यह धार्मिक धारणा के सन्दर्भ मे विशेष रूप से द्रष्टव्य है। उदाहरणत, मनोविश्लेषक सब मानव-कर्मों और भावनाओ को अचेतन या अवचेतन मे दमित किसी एक प्रयोजन की छद्म अभिव्यक्तिया मानते हैं। इस प्रकार से फ्रायड के लिये सगीत, दर्शन, विज्ञान और धर्म सब एक मैथुन वासना की विभिन्न अभिव्यक्तिया हैं। उसके लिये धर्म और विज्ञान मे अन्तर यह देखने मे ही रह जाता है कि यह वासना छद्म की कौन सी विधि एक मे अपनाती है और कौन सी विधि दूसरे मे अपनाती है। यान्त्रिकतावादी मनोवैज्ञानिक उद्दीपन-प्रतिक्रिया सस्थान मे सब मन स्थितियो का अन्तर्भाव करते हैं, और इस प्रकार से उनके लिये धर्म कुछ विशेष प्रकार के उद्दीपनो के प्रति विशेष प्रकार का प्रतिक्रिया-सस्थान मात्र है। जीव वैज्ञानिकतावादी मनोवैज्ञानिक मन स्थितियों अथवा मनस्क्रियाओ का अन्तर्भाव किसी सहज प्रवृत्ति (इन्स्टिक्ट) अथवा वासना (ड्राइव) मे करते हैं। इनमे कुछ मनोवैज्ञानिक धर्म को मनुष्य की मूल वासना अथवा प्रवृत्ति भी मान सकते हैं, किन्तु तब भी, इसका वासना-लक्षण अथवा प्रवृत्ति-लक्षण होना आवश्यक है। इस प्रकार से, उनके लिये धर्म पक्षियो के घोसला बनाने, मूषिक के धान्य सग्रह करने और मगर के रेत में अण्डा सेने की प्रवृत्ति से, अथवा आहार, मैथुन आदि वासनाओ से, तुलनीय है। यह मनोविज्ञान का अनिवार्य दुर्भाग्य है कि वह कोई ऐसे सरल-मूल प्रत्यय खोजे जो जीव-धर्म कहे जा सकें। और समाजविज्ञान के लिये यह

आवश्यक है कि वह मनोविज्ञान मे प्रतिष्ठित और अन्तर्भूत हो। वास्तव मे, विज्ञानो मे अन्तर्भाव की एक शृंखला है, समाजविज्ञान मनोविज्ञान मे अन्तर्भाव्य है, मनोविज्ञान जीवविज्ञान मे, जीवविज्ञान शरीरविज्ञान मे, शरीरविज्ञान रसायनविज्ञान मे, और रसायनविज्ञान भूतविज्ञान मे। इस प्रकार से, भौतिक विज्ञान के अतिरिक्त शेष सब विज्ञान केवल मध्यवर्ती विज्ञान है।

किन्तु यदि कोई विज्ञानो को मध्यवर्ती नही भी माने, प्रत्येक विज्ञान को अपने आप मे अन्तिम माने, तब भी उसके लिये सब स्थितियों का निम्नतम कोटियो मे अन्तर्भाव करना आवश्यक है। विशेष रूप से उसकी सीमा मूल्यात्मक स्थितियो को समझने मे प्रकट होती है, क्योंकि विज्ञान केवल वस्तुता अथवा अस्तितता की कोटि को ही स्वीकार करता है, आदर्श अथवा अभिकाक्ष्य की कोटि को स्वीकार नही करता। इसका अर्थ यह नही कि वह आदर्शों की विद्यमानता को स्वीकार नही करता, किन्तु आदर्श उसके लिये ऐसी वस्तुस्थिति है जिसका स्वरूप नही बल्कि वस्तुता विवेच्य है, और इस प्रकार से उसके लिये यह खोजना आवश्यक हो जाता है कि आदर्श का वस्तुगत स्रोत क्या है, उसका स्वरूप उसके लिये अर्थहीन है।

× × ×

हमारे लिये यहा धर्म का स्वरूप विवेच्य है। धर्म का क्या स्वरूप है? यह परिभाषा का प्रश्न है, किन्तु परिभाषा यादृच्छिक रूप से किसी शब्द को अर्थ दे देना मात्र नही है। इसमे दो विवक्षाए रहती है। एक तो परिभाष्य शब्द का साधारण प्रचलित अर्थ होता है, जिसका ध्यान रखना आवश्यक होता है, और दूसरे, उस शब्द के वाच्य विषय के स्वरूप को समझना होता है। यह दूसरी विवक्षा कठिन भी है और इसमे यादृच्छिकता का भय भी रहता है। इसलिए प्रचलित अर्थ को ध्यान मे रखना आवश्यक होता है। किन्तु यदि प्रचलित अर्थ स्पष्ट नही हो तो उसमे सशोधन विहित होता है।

हमने पीछे धार्मिक सस्थाओ का उल्लेख किया। समाजशास्त्री के लिए श्राद्ध-सस्कार, मूर्ति-मन्दिर धार्मिक सस्थाए हैं। कुछ लोग धर्म को 'अन्धविश्वास' का पर्याय मानते हैं, और दूसरे, ऐसा कहे बिना, सब प्रकार की पौराणिकता को धर्म की सज्ञा देते हैं।[२] नृतत्ववैज्ञानिक और समाजशास्त्री

---

२ दुर्खीम—एलीमेंट्री फार्म्स ऑफ रिलिज्यस लाईफ।

'धर्म' शब्द का प्रयोग प्राय इसी अर्थ मे करते है। बर्गसा यद्यपि पौराणिकता और धर्म मे भेद करते है और उनके अनुसार इनमे कोई तारतम्य भी नही है, किन्तु वे भी पौराणिकता को 'जड धर्म' (स्टेटिक रिलीज्यन) की सज्ञा ही देते हैं।[3] इसी प्रकार से, कैसीरर यद्यपि पौराणिकता और धर्म मे आमूल अन्तर देखते हैं, किन्तु वे इनमे तारतम्य मानते हैं।[4] दूसरी ओर, कबीर पौराणिकता और सस्थाओ को धर्म मे बाधक मानते है। वास्तव मे अन्तत. कैसीरर और बर्गसाँ भी कबीर से एकमत ही हैं, बर्गसाँ स्पष्ट रूप से जड धर्म को सप्राण धर्म का प्रतीप मानते हैं और इसी प्रकार से कैसीरर भी धर्म को पौराणिकता का विपरीतगामी देखते है, केवल वे 'धर्म' शब्द का प्रयोग दोनो अर्थो मे करते है। किन्तु तुलसीदास शास्त्र-सम्मत मर्यादाओ को, जिन्हे बर्गसाँ जड धर्म कहते है और कबीर जड बाधाएँ, धर्म का आवश्यक अ ग मानते है। किन्तु तब भी तुलसीदास नृतत्वशास्त्रियो के समान पौराणिकता मात्र को धर्म नही मानते, वे मर्यादाओ को भी धर्म का पर्याय नही मानते, वे केवल इन्हे धर्म-साधक मानते हैं, यद्यपि उनके अनुसार ये अनिवार्य साधक है। इस प्रकार से 'धर्म' शब्द का अर्थ स्पष्टीकरण की अपेक्षा करता है। यहाँ हम यह अर्थ स्पष्ट करके इसके वाच्य के स्वरूप पर विचार करेंगे।

व्यावहारिक धर्म मे निश्चित रूप से पौराणिकता अन्तर्व्याप्त रहती है, और यह केवल इस रूप मे ही इसमे नही रहती कि साम्प्रदायिक चिह्नो, रूढियो और मर्यादाओ को इसमे पवित्रता से मडित कर दिया जाता है, और न केवल इस रूप मे ही रहती है कि मूर्ति, मदिर, अवशेष आदि प्रतीको का प्रतीकित से अभेद स्थापित कर दिया जाता है, बल्कि इसमे अधिकाशत मनोवृत्ति का वही रूप भी रहता है जो पौराणिक मे मिलता है। किन्तु केवल इस कारण से 'धर्म' का अर्थ 'पौराणिकता' नही माना जा सकता, न यही माना जा सकता है कि पौराणिकता धर्म का अनिवार्य अ ग है। जैसाकि हम पीछे देख चुके हैं, पौराणिक प्रतीक धर्म के क्षेत्र मे वही लक्ष्य सिद्ध करते हैं जो ये अन्य क्षेत्रो मे करते हैं, अथवा जो ये पौराणिक युग मे

---

३ हेनरी बर्गसाँ—द्र सोर्सेज ऑफ मारेलिटी एण्ड रिलीज्यन।

४. अर्न्स्ट कैसीरर—फिलासफी ऑफ सिम्बालिक फार्म्स, जिल्द २, अन्तिम अध्याय, तथा 'एस्से ऑन मैन' मे माइथोलोजी एण्ड रिलिज्यन।

करते रहे हैं। ये भावनाओं के लिए स्थूल आलवन प्रस्तुत करते है और ये आलवन सामाजिक अथवा साम्प्रदायिक सगठन का आधार बन कर जादुई सप्राणता से आविष्ट हो जाते हैं। किन्तु जो इन आलवनो से मुक्त हो सकता है, जो इनके वास्तव अर्थ को जान कर इनका अतिक्रमण कर सकता है, वह धर्म का, और इसी प्रकार से अन्य सब पुरुषार्थों का, वास्तव तत्त्व समझ सकता है।

धर्म मानवीय अर्थ अथवा अन्वेषण के उस रूप को कह सकते है जो जीवन का लक्ष्य लोकोत्तर और परम चैतन्य की स्थिति की प्राप्ति को, अथवा परम चैतन्य के बोध की योग्यता की प्राप्ति को, स्वीकार करता है। इस प्रकार से धर्म एक मूल्यबोध है, क्योकि 'उत्कर्ष' इसके लिए मूल प्रत्यय है और उसका अन्वेषण या उपलब्धि इसकी मूल प्रेरणा। ऐतिहासिक रूप से इसका उदय पौराणिक 'शक्तियो' के बीच से 'एक शक्ति' (ईश्वर) के प्रत्यय के उद्भव के साथ हुआ, किंतु ज्ञानमीमासात्मक दृष्टि से यह मात्र एक विकास नही है, इसमे और पौराणिक अवधारण मे एक सरचनात्मक (स्ट्रक्चरल) अथवा गुणात्मक अन्तर है। 'ईश्वर' वायु देवता, अग्नि देवता, तथा पाषाण देवता के समान केवल इन-इन पदार्थो का प्राण-तत्व अथवा व्यक्तित्व मात्र नही है, जो मानव-तुल्य है और उसी के समान सज्जन, दुष्ट, धूर्त, मक्कार, उपकारक, अपकारक है, वह अनिवार्य रूप से उदात्ततम चैतन्य, एकमात्र अधिष्ठाता और अनन्त गुणसम्पन्न है—वह व्यक्ति होकर भी निर्वैयक्तिक है, विश्व मे होकर भी विश्वोत्तीर्ण है, और वह इसलिए उपास्य नही है कि उसे पौराणिक शक्तियो के समान उपासना से प्रसन्न कर कुछ लाभ प्राप्त करना है अथवा उसके क्रोध को शान्त करना है, बल्कि इसलिए उपास्य है क्योकि उपासना उपासक की वृत्तियो को उदात्ततर बनाती है, उसके चैतन्य को उस उदात्ततम के दर्शन के योग्य बनाती है। उसकी कृपा अनिवार्य है, किन्तु यहाँ 'कृपा' का अर्थ भी मूलत भिन्न हो जाता है, यह उसकी परम उदात्तता का बोध प्राप्त करने मे मनुष्य की परम् असमर्थता का वाचक मात्र है, यह सामर्थ्य उसे उसकी कृपा के रूप मे ही प्राप्त हो सकती है, और केवल यही कृपा के रूप मे उसे प्राप्त हो सकती है, क्योकि अन्य कोई भी कामना और कोई भी प्राप्ति उपासना की धारणा के ही विरुद्ध है, वह तो उपासना की व्याघातक है। इसीलिए मैत्रेयी कोई धन, कोई

सुख और कोई शक्ति नही चाहती, वह इनसे पूर्ण मुक्ति चाहती है, जो व्यक्तित्व के लय के रूप मे उपलब्ध होती है। इस प्रकार से धर्म मूल्यबोध की पराकाष्ठा है, क्योंकि यह सब मूल्यो के निषेध पर प्रतिष्ठित है, यहा तक कि उस बधन का भी छेदन करना होता है जो उसे उसके व्यक्तित्व की सीमा मे बांधता है। यह छेदन ही उस मूल्य मे लय कर सकता है जो मूल्यो का अजस्र स्रोत है—जो परम सत्, परम चित् तथा परम आनन्द-स्वरूप है, सब विद्याए जिसके ज्ञान मे पूर्ण होती है, सब अनुभव जिसके स्फुलिगो के रूप मे उदित होते हैं और सब सौदर्य जिसकी छायाओ के रूप मे प्रतिभासित होते हैं।

धर्म का यह स्वरूप, और यही उसका स्वरूप है, पौराणिकता से मूलत भिन्न है। यह उसके निषेध पर प्रतिष्ठित है। पौराणिकता मे उत्कर्ष और उदात्तता की कोई स्पष्ट धारणा नही मिलती, वह अनुभव के सघत्व का ससार है जिसमे वस्तु, इच्छा और सवेग अविभक्त रूप मे विषय को जन्म देते है। यह विषय सदैव 'व्यक्ति' होता है, जो शत्रु या मित्र भाव से प्रस्तुत होता है। उसकी कला-कृतिया भी कलाबोध से प्रेरित नही हो कर उसके समग्र क्षण से सृष्ट होती हैं। उसका नृत्य जितना उसके आनन्द की अभिव्यक्ति है उतना ही उसकी कृषि की अपकारक शक्तियो के निवारणार्थ जादू-क्रिया भी है, वह चित्र आत्माभिव्यक्ति के लिए न बना कर चित्रित वस्तु को अपने वश मे करने के लिए बनाता है। इसके विपरीत धर्म अत्यन्त अपोहात्मक है, उसका साध्य केवल 'नेति' की भाषा मे ही व्यक्त हो सकता है। वह अपने मूल्य को कामना और सवेग से पृथक् स्थापित करता है, ये उसके चरितार्थन के मार्ग मे बाधक होकर त्याज्य हो जाते हैं, वह सब शुभ और मगल हो जाता है जो उस परम मूल्य मे साधक है और शेष सब अशुभ और अमगल हो जाता है। पुराण के गर्भ से निकलता हुआ धर्म पौराणिक शक्तियो को प्रतीक बना कर इस परम-साध्य की महाकाव्य-रचना मे इन्हे दैव और आसुर पात्रों के रूप मे कल्पित करता है। किंतु ये पौराणिक शक्तिया अब अपनी सत्ता खो कर केवल प्रतीक मात्र रह जाती हैं। अवतार की अवधारणा इसी प्रकार की अवधारणा है। राम और कृष्ण के रूप मे परमेश्वर सपूर्ण सृष्टि को उसके परम साध्य की ओर अग्रसर करने के लिए अपनी कृपा का प्रसार करते हैं और अग्रगति मे बाधक सस्कारो का निवारण करते हैं।

इसमे सदेह नही कि राम-रावरण, सुग्रीव, हनुमान आदि धार्मिक प्रतीक अधिकाशत प्रतीक नही रहते और ये पौराणिक 'व्यक्तियो' के रूप मे परिणत हो जाते हैं, किंतु इससे धर्म और पुराण मे अभेद स्थापित नही हो जाता, और न ही इनमे तारतम्य बैठाया जा सकता है।

किन्तु यह पौराणीकृत धर्म भी धर्म का पौराणीकरण होने के कारण धर्म के तत्व से निविष्ट तो रहता ही है। इस प्रकार से इसमे यद्यपि 'राम', 'कृष्ण', 'रावण', 'हनुमान' आदि प्रतीक से वास्तव हो जाते हैं, यहा तक कि इनकी मूर्तियां भी इनके सत्व से निविष्ट हो जाती है, किन्तु तब भी मूल कल्पना—मूल्य का मूल आकर्षण—पूर्णत विस्मृत नही होती, अवतार के सब कर्म उसके परमेश्वर तत्व को ही व्यक्त करते है तथा खग-मृग, मानव और देव सब असुरो के सहार मे उनके सहायक होते हैं। इस प्रकार धर्माविष्ट पुराण मूल्यात्मक उत्कर्ष-कामना को ही व्यक्त करता है, इसमे पौराणिकता केवल अर्थ और अर्थी के बीच प्रतीको के ठोस और अपारदर्शी रूप मे स्थापित हो जाने मे है।

ये अपारदर्शी प्रतीक (अथवा पौराणिकता) ही विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायो को जन्म देते है। मूल्यात्मक अर्थ के स्थानापन्न होने के कारण ये मनुष्य को आकृष्ट करते हैं, उसका उत्कर्ष भी करते है, और इस आकर्षोत्कर्षात्मक शक्ति के द्वारा महान् सास्कृतिक आदोलनो को जन्म देते है। इनके ज्वार मे व्यक्ति अपनी पृथक्ता डुबो कर तदात्म हो जाता है और शेष बचती है केवल आदोलन की महदध शक्ति। इस आदोलन का स्वरूप और दिशा ऐतिहासिक शक्तियो से निर्धारित होती है, क्योकि इनके प्रतीक ऐतिहासिक रूप से प्राप्त होते हैं, मौलिक केवल वह ज्वार होता है जो किसी महानात्मा की मूल्य-दृष्टि से प्राण प्राप्त कर उत्तोलित होता है। यह शुद्ध मूल्य, शुद्ध अर्थ, आरम्भ मे अपनी प्राणवत्ता से पुराने प्रतीकों का ध्वस करते हुए आविर्भूत होता है, अपने प्रतीको को भी नये प्राण से मडित कर देता है, किन्तु धीरे-धीरे वह प्रतीको की जडता मे ठडा हो जाता है।

किंतु अपारदर्शी प्रतीक अर्थ के आच्छादक तो सदैव होते ही हैं, अधिकाशत ये अर्थापघातक भी होते है—साप्रदायिक घृणा और सहार इसके स्पष्ट प्रमाण हैं। ये सब घृणा और सहार किसी आदर्श की भावना से ही प्रेरित होते हैं, क्योकि साध्य तो धर्म ही होता है, किन्तु उसका वास्तव अर्थ

अपरुद्ध होने से मनुष्य की धर्म-यात्रा प्रायः सदैव लक्ष्य-भ्रष्ट रहती है। कबीर कहते है

इक पढ़ै पाठ, इक भ्रमै उदास, इक नगन निरतर, रहैं निवास
इक जोग जुगुति तन हूहि खीन, ऐसे राम नाम सग रहैं न लीन।

कबीर जप-जाप, विरागी बाना, नग्न रह कर अथवा अन्य योगादि साधनो से काय-क्लेश तक को भी पौराणिक प्रतीक, और इस प्रकार से वास्तव धर्म के छद्म प्रतिरूप, मानते हैं। धर्म का यह वास्तव अर्थ बहुत पहले समझ लिया गया था। भारत मे इसकी उच्चतम अभिव्यक्ति हम सर्वप्रथम उपनिषदो मे पाते है। उपास्य ईश्वर की कल्पना और उपासक का उसके प्रति समर्पण मानव के धार्मिक अन्वेषण का प्रथम चरण है। यह प्रथम ऐतिहासिक रूप से भी है और ज्ञानमीमासात्मक रूप से भी। जैसाकि हमने कहा, धर्म का आविर्भाव पौराणिक शक्तियो के कुहरे मे से विश्व के एक अधिष्ठाता की कल्पना के उदय के साथ हुआ जो मनुष्य का समकक्ष न होकर उससे असीमत. उत्कृष्ट था। यह असीमत उत्कृष्ट मानव-रूप ईश्वर स्वभावत उसके आदर्श-बोध की सृष्टि था। मानव मे इस बोध का अकुरण कोई सामान्य बात नही थी, यह उसके लिए एक नये विश्व का उद्घाटन था—मूल्यो के विश्व का उद्घाटन। इसमे कामनाओ को एक नया आयाम मिला और सवेगो को नया विश्राम-स्थल। किंतु जिस स्वरूप के साथ यह उत्पन्न हुआ उसके निहित प्रत्यय का क्रियान्वयन अभी शेष था, उसमे निहित सभावनाओ और प्राण को अभी अपने को चरितार्थ करना था।

ईश्वर यदि मानव की आदर्श सृष्टि है तो वह (मानव) केवल उसकी उपासना से सतुष्ट नही हो सकता, आदर्श की उपासना कैसी ? वह तो स्वय ईश्वर हो कर ही सन्तोष-लाभ कर सकता है। इसके लिए मानव को स्वय अपना अतिक्रमण करना होता है—आत्मोत्तीर्ण होना होता है।

मूल्यान्वेषण के स्वरूप मे एक विचित्र विरोधाभास है इसमे अन्वेष्य अनिवार्यत परात्पर इतर होता है, वह स्वतोबाह्य होता है, नहीं तो अन्वेषण कैसा ? किंतु इसकी उपलब्धि केवल अपने चैतन्य की अवस्था के रूप मे ही होती है। कला साधक की साधना कला-सृष्टि की योग्यता की प्राप्ति मे चरितार्थ होती है। यह सभी साधनाओ का भाग्य है वे साधक के साध्यमय होने मे चरितार्थ होती हैं। इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि मूल्य

विषयीनिष्ठ होते हैं, यदि वे होते तो साधना की कोई आवश्यकता ही नहीं होती, किंतु यदि वे विषयी से इतर होते तब भी साधना अनावश्यक होतीं, उनकी उपलब्धि के लिए केवल प्रयत्न और अध्यवसाय की अपेक्षा होती। किंतु अध्यवसाय और परिश्रम उसकी उपलब्धि नहीं करा सकते, वह कहीं दूर या भूगर्भ मे जो नहीं है, वह केवल अन्वेषक से आत्म-रूपातरण की माग करता है। इसलिए मूल्योपलब्धि विषयी-विषय भाव के लय होने मे चरितार्थ होती है। इस बात को शाकर और बौद्ध दार्शनिको ने विशेष रूप से समझा था, बौद्ध साधक अपने व्यक्तित्व-रूप घटना-सतान का अवरोध कर पूर्ण असद्भाव मे प्रतिष्ठित होना है और वेदाती व्यक्तित्व रूप अहकार को विनष्ट कर निरहकार-निर्विषय मे एकाकार हो जाता है। विषयी-विषय-भेद का पूर्ण निरास कर वह स्थिति प्राप्त होती है जो न आत्मरूप है और न पर-रूप, वह एक और अद्वय है।

धर्म का अन्य मूल्यान्वेषणो से यह अ तर है कि यह ज्ञानात्मक है, इसका अन्वेष्य सत् होता है, इसीलिए तत्व-चिंतन सदैव इसके साथ चलता है। विशुद्ध तत्व-चिंतन से इसमे भेद केवल यही है कि तत्व-चिंतक निस्सग रूप से विवेचन मात्र करता है, जबकि धार्मिक के लिए परम तत्व परम मूल्य के रूप मे प्रस्तुत होता है। इसीलिए धर्म साधनात्मक होता है। विशुद्ध तत्व-चिंतन ज्ञान को केवल विषय मे ही प्राप्त कर सकता है, क्योकि विषय से पृथक् ज्ञान अपना प्रकाश नही कर सकता। इस प्रकार से तत्व-चिंतक के लिए ज्ञान और ज्ञेय का यौगपद्य विषय मे चरितार्थ होता है और विषयी या साक्षी की स्थिति सदिग्ध हो जाती है। किंतु साधक के लिए यह यौगपद्य ज्ञान के प्रकाश मे विषयी-विषय के लय के रूप मे उपलब्ध होता है, क्योकि, जैसाकि हमने कहा, मूल्यान्वेषण का विषय अन्वेषक विषयी के उसके साथ तादात्म्य के रूप मे ही उपलब्ध हो सकता है, अर्थात् आत्म-चैतन्य की उस स्थिति के रूप मे जिसमे वह पूर्ण चैतन्य हो जाता है। इस प्रकार धार्मिक चेतना ज्ञान और सत् के भेद को स्वीकार नही कर सकती, और न ज्ञान को विषयी-निष्ठ ही मान सकती है।

धर्म का यह पूर्ण परिष्कृत रूप कुछ उपनिषदो मे और बौद्ध तथा शाकर दर्शनो मे तथा भारतीय और सूफी रहस्यवादियो मे दृष्टिगोचर होता है। अन्य उपासना-मार्ग मूल्यान्वेषण के सूक्ष्मतम अर्थ को ग्रहण नहीं कर

अपरुद्ध होने से मनुष्य की धर्म-यात्रा प्रायः सदैव लक्ष्य-भ्रष्ट रहती है। कबीर कहते है

इक पठै पाठ, इक भ्रमै उदास, इक नगन निरतर, रहै निवास
इक जोग जुगुति तन हूहि खीन, ऐसे राम नाम सग रहै न लीन।

कबीर जप-जाप, विरागी बाना, नग्न रह कर अथवा अन्य योगादि साधनो से काय-क्लेश तक को भी पौराणिक प्रतीक, और इस प्रकार से वास्तव धर्म के छद्म प्रतिरूप, मानते हैं। धर्म का यह वास्तव अर्थ बहुत पहले समझ लिया गया था। भारत मे इसकी उच्चतम अभिव्यक्ति हम सर्वप्रथम उपनिषदो मे पाते हैं। उपास्य ईश्वर की कल्पना और उपासक का उसके प्रति समर्पण मानव के धार्मिक अन्वेषण का प्रथम चरण है। यह प्रथम ऐतिहासिक रूप से भी है और ज्ञानमीमासात्मक रूप से भी। जैसाकि हमने कहा, धर्म का आविर्भाव पौराणिक शक्तियो के कुहरे मे से विश्व के एक अधिष्ठाता की कल्पना के उदय के साथ हुआ जो मनुष्य का समकक्ष न होकर उससे असीमत उत्कृष्ट था। यह असीमत उत्कृष्ट मानव-रूप ईश्वर स्वभावत उसके आदर्श-बोध की सृष्टि था। मानव मे इस बोध का अकुरण कोई सामान्य बात नही थी, यह उसके लिए एक नये विश्व का उद्घाटन था—मूल्यो के विश्व का उद्घाटन। इसमे कामनाओ को एक नया आयाम मिला और सवेगो को नया विश्राम-स्थल। किंतु जिस स्वरूप के साथ यह उत्पन्न हुआ उसके निहित प्रत्यय का क्रियान्वयन अभी शेष था, उसमे निहित सभावनाओ और प्राण को अभी अपने को चरितार्थ करना था।

ईश्वर यदि मानव की आदर्श सृष्टि है तो वह (मानव) केवल उसकी उपासना से सतुष्ट नही हो सकता, आदर्श की उपासना कैसी ? वह तो स्वय ईश्वर हो कर ही सन्तोष-लाभ कर सकता है। इसके लिए मानव को स्वय अपना अतिक्रमण करना होता है—आत्मोत्तीर्ण होना होता है।

मूल्यान्वेषण के स्वरूप मे एक विचित्र विरोधाभास है · इसमे अन्वेष्य अनिवार्यत परात्पर इतर होता है, वह स्वतोबाह्य होता है, नहीं तो अन्वेषण कैसा ? किंतु इसकी उपलब्धि केवल अपने चैतन्य की अवस्था के रूप मे ही होती है। कला साधक की साधना कला-सृष्टि की योग्यता की प्राप्ति मे चरितार्थ होती है। यह सभी साधनाओ का भाग्य है वे साधक के साध्यमय होने मे चरितार्थ होती हैं। इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि मूल्य

विषयीनिष्ठ होते हैं, यदि वे होते तो साधना की कोई आवश्यकता ही नहीं होती, किंतु यदि वे विषयी से इतर होते तब भी साधना अनावश्यक होती, उनकी उपलब्धि के लिए केवल प्रयत्न और अध्यवसाय की अपेक्षा होती। किंतु अध्यवसाय और परिश्रम उसकी उपलब्धि नहीं करा सकते, वह कहीं दूर या भूगर्भ मे जो नहीं है, वह केवल अन्वेषक से आत्म-रूपातरण की माग करता है। इसलिए मूल्योपलब्धि विषयी-विषय भाव के लय होने मे चरितार्थ होती है। इस बात को शाकर और बौद्ध दार्शनिको ने विशेष रूप से समझा था, बौद्ध साधक अपने व्यक्तित्व-रूप घटना-सतान का अवरोध कर पूर्ण असद्भाव मे प्रतिष्ठित होना है और वेदाती व्यक्तित्व रूप अहकार को विनष्ट कर निरहकार-निर्विषय मे एकाकार हो जाता है। विषयी-विषय-भेद का पूर्ण निरास कर वह स्थिति प्राप्त होती है जो न आत्मरूप है और न पर-रूप, वह एक और अद्वय है।

धर्म का अन्य मूल्यान्वेषणो से यह अ तर है कि यह ज्ञानात्मक है, इसका अन्वेष्य सत् होता है, इसीलिए तत्व-चिंतन सदैव इसके साथ चलता है। विशुद्ध तत्व-चिंतन से इसमे भेद केवल यही है कि तत्व-चिंतक निस्सग रूप से विवेचन मात्र करता है, जबकि धार्मिक के लिए परम तत्व परम मूल्य के रूप मे प्रस्तुत होता है। इसीलिए धर्म साधनात्मक होता है। विशुद्ध तत्व-चिंतन ज्ञान को केवल विषय मे ही प्राप्त कर सकता है, क्योकि विषय से पृथक् ज्ञान अपना प्रकाश नही कर सकता। इस प्रकार से तत्व-चिंतक के लिए ज्ञान और ज्ञेय का यौगपद्य विषय मे चरितार्थ होता है और विषयी या साक्षी की स्थिति सदिग्ध हो जाती है। किंतु साधक के लिए यह यौगपद्य ज्ञान के प्रकाश मे विषयी-विषय के लय के रूप मे उपलब्ध होता है, क्योकि, जैसाकि हमने कहा, मूल्यान्वेषण का विषय अन्वेषक विषयी के उसके साथ तादात्म्य के रूप मे ही उपलब्ध हो सकता है, अर्थात् आत्म-चैतन्य की उस स्थिति के रूप मे जिसमे वह पूर्ण चैतन्य हो जाता है। इस प्रकार धार्मिक चेतना ज्ञान और सत् के भेद को स्वीकार नही कर सकती, और न ज्ञान को विषयी-निष्ठ ही मान सकती है।

धर्म का यह पूर्ण परिष्कृत रूप कुछ उपनिषदो मे और बौद्ध तथा शाकर दर्शनो मे तथा भारतीय और सूफी रहस्यवादियो मे दृष्टिगोचर होता है। अन्य उपासना-मार्ग मूल्यान्वेषण के सूक्ष्मतम अर्थ को ग्रहण नहीं कर

पाये। धर्म का यह अर्थ, जिसमे ज्ञान और ज्ञेय तथा अन्वेपक और अन्वेष्य एकलय हो जाते है, कबीर के निम्न पद मे अत्यत सुदर रूप मे निरूपित हुआ है

> निरगुन आगे सरगुन नाचै,
> बाजै सोहग तूरा,
> चेला के पाव गुरु जो लागै,
> यही अचभा पूरा।

अर्थात् निर्गुण के आगे सगुण नाच रहा है और सोऽह का तूर्य बज रहा है। अन्वेषक का अहबोध इतना महत् हो गया है कि स्वय अन्वेष्य उसके चरणो मे नत है।

× × ×

धर्म का यह शुद्ध अर्थ धार्मिक प्रेरणा के तर्क-रूप मे निहित है। जैसा कि हमने कहा, धर्म मूल्यान्वेपण है। मूल्य का अर्थ इच्छित वस्तु नही है, इसीलिए महल, कार, मैथुन-सखा अथवा भोज्य पदार्थ मूल्य नही होते। किंतु अर्थलाभ-सुख, मैथुन-सुख अथवा जिह्वा-रस मूल्य हो सकते है। ये सब भाव्य हैं, प्राप्य नही। भाव्य भावना का लक्ष्य होता है, जो भावना न हो कर भावना से आत्म-रूपान्तरण की माग करता है, भावना उसे ज्ञानात्मक वृत्ति के रूप मे प्राप्त नही कर रसात्मक वृत्ति के रूप मे प्राप्त करती है। इस प्रकार से भावना भाव्य से भिन्नाभिन्न होती है, अथवा, न भिन्न होती है और न अभिन्न।

किंतु इसीलिए सब ऐन्द्रिय मूल्य निम्न कोटि के मूल्य हैं, ये अस्थायी, सापेक्ष और मिश्र होते हैं, इनमे भाव्य अन्य माध्यम मे प्राप्त होता है, इसकी वृत्ति न केवल माध्यम के साहचर्य की समाप्ति के साथ समाप्त हो जाती है, बल्कि इसके सतोष की पराकाष्ठा मे ही इसका अन्त भी आपन्न हाता है। इसका कारण है, इन रसो की वृत्ति शारीरिक है और चैतन्य शरीर-वृत्ति मे अधिष्ठित हो कर इन रसो का आस्वाद करता है। भारतीय चिंतको ने इनके भी शुद्ध रूप की कल्पना की है। प० गोपीनाथ कविराज इनके शुद्ध रूप की कल्पना करते हुए लिखते हैं "जब प्यास से व्याकुल हो कर हम जल पीते हैं तब वस्तुत सपूर्ण जल हमारा ग्राह्य नही होता, जल का जो सार है— एक शब्द मे जिसे 'रस' कहा जा सकता है, हमारे लिए वही उपादेय होता है। बहुत से जल मे भी एक शुद्ध कण से अधिक रस का मिलना निश्चित

नही है। पिपासा अग्नि का धर्म है, देह मे अग्नि की क्रिया होने के कारण ही पिपासा का आविर्भाव होता है। इसी प्रकार रस सोम का धर्म है। इस अग्नि को शात करने के लिए इस सोम-बिंदु के अतिरिक्त ससार मे अन्य कोई भी उपाय नही है।

"जैसे सोम विशुद्ध भोग्य है, वैसे ही अग्नि विशुद्ध भोक्ता है, किंतु जगत् मे साधन-सस्कार के बिना ऐसा कोई जीव देखने मे नही मिल सकता जिसमे शुद्ध अग्नि प्रज्वलित हो चुकी हो। सौभाग्य से जिनके अन्दर यह अग्नि जल उठी है वे दिव्य भाव को प्राप्त हो कर अग्निरूप भूख का अवलबन करके दृष्टि के द्वारा ही भोग्य-निहित अमृत का आस्वाद लेते हैं।"[५] ऐन्द्रिय आस्वाद का ऐसा कोई शुद्ध रूप हो सकता है या नही, किंतु इसका लक्ष्य यह अवश्य है, जो हमारे विचार मे, न कभी प्राप्त हो सकता है और न इसकी ओर कोई प्रगति सभव है। प्रगति की यह असभाव्यता इसकी निकृष्टता की एक सूचक है।

किंतु इस रस की भी परम लक्ष्य-सिद्धि के लिए इन्द्रियो से आत्मोत्तीर्णता की यह माग मूल्य-साधना के उस अर्थ की व्यजक है जो धर्म मे अपने शुद्धतम और सहजतम रूप मे उपलब्ध होता है। कलाए इस स्तर-शृखला मे मध्य-भूमि पर आती हैं। कलाओं मे, विशेषत दृश्य कलाओ मे, यद्यपि अर्थ किसी स्थूल माध्यम मे व्यक्त होता है किंतु तब भी माध्यम स्वय अर्थ की व्यजना के क्रम मे सृष्ट होता है, इसलिए इस रस की निष्पत्ति सापेक्षक नही होती, इसकी वृत्ति भी शारीरिक न हो कर शुद्ध अर्थमय ही होती है। किंतु नाद-सगीत मे माध्यम अत्यन्त सूक्ष्म हो जाता है और वृत्ति क्रमश क्षीण होती हुई शब्द-सामरस्य मे एकाकार हो कर निरवलब भाव को प्राप्त होती है। किंतु कलाओ का यह शुद्धार्थ किन्ही विरले कलाकारो को ही प्राप्त होता है। अन्य कलाकार तो ऐंद्रिय वृत्तियो का प्रकर्ष कर उन्हे अपेक्षाकृत अधिक स्थायित्व प्रदान करने मात्र तक सतुष्ट रहते हैं। तब भी सूक्ष्मतर होने के कारण वे शुद्ध ऐन्द्रिय स्तर से तो प्रकृष्ट हैं ही।

धर्म, कलाओ के विपरीत, समग्र व्यक्तित्व की कला है, इसलिए इसका

---

५ गोपीनाथ कविराज—भारतीय सस्कृति और साधना, भाग २ मे "धर्म का सनातन अर्थ" लेख, पृ० ९८-९९, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्।

साध्य सब रसो और अर्थों का समावेश कर सामरस्य विधान करना है। इसकी साधना के लिए चैतन्य को वाह्य वृत्तियो से विमुख होकर आंतर समृद्धि लाभ करना होता है, जबतक कि वह अपने व्यक्तित्व की सीमा का क्षय कर साध्य मे लय न हो जाय।

पूर्ण-व्यक्ति-रूप इस साध्य की कल्पना धर्म के लिए अत्यन्त सहज है। व्यक्ति-बोध का उदय ऐन्द्रिय वृत्तियो से ऊपर उठ कर अहकार-वृत्ति की उपलब्धि के साथ होता है।[६] यह अहकार जबकि स्वय एक वृत्ति है, वह अन्य वृत्तियो का साक्षी है, इस तरह यह दो प्रकार से मध्य-स्तर-वर्त्ती है: स्वय वृत्ति होने से यह अन्य साक्षी की अपेक्षा करता है, और व्यक्ति-वृत्ति होने से यह विश्व-वृत्ति होने की अपेक्षा करता है—एक इसका तथ्य है और दूसरा इसका मूल्य। ये तथ्य और मूल्य तब एक हो जाते हैं जब विशुद्ध साक्षी-भाव वृत्ति से अबद्ध होने से अशेष वृत्तियो का समाहार अपने मे करता है। इस प्रकार से वृत्तियो के क्षय से आयातित महाशून्य वृत्तियो के लय से याचित परम ब्रह्म का पर्याय हो जाता है। कुछ लोग बौद्ध धर्म द्वारा आत्मा तथा ईश्वर के निषेध के कारण उसे 'सामान्य अर्थ मे धर्म' न स्वीकार कर "एक जीवन-विधि तथा अनुभव के प्रति एक विशेष दृष्टिकोण" कहना उचित समझते हैं। एक आग्ल लेखक गैलोवे के अनुसार 'अपने मूल रूप मे बौद्ध मत मे न ईश्वर की कल्पना थी और न धर्म विज्ञान ही था. इसमे लोकोत्तर लोक के प्रति कोई दृष्टि नही थी, बल्कि यह केवल एक जीवन-व्यवस्था और अनुभव के प्रति एक अभिवृत्ति मात्र था। इसका लक्ष्य सकारात्मक के बजाय नकारात्मक था।"[७]

बौद्ध धर्म के प्रति, और धर्म के प्रति सामान्य रूप से, यह एक अत्यन्त भ्रामक दृष्टि है। ईश्वर सम्बन्धी कल्पना का उदय भारत मे बुद्ध से सदियो पहले हो चुका था और उसका पूर्ण व्यवस्थित और सुगठित विज्ञान ब्राह्मणो, स्मृतियो और मीमासा मे अपना चरम विकास कर चुका था। इसलिए बुद्ध के लिए वैसा ही एक अन्य ईश्वर खडा करना कठिन नही था। किंतु ईश्वर, और विशेष रूप से धर्म-विज्ञान (थीआलोजी), गीता के अत्यन्त व्यजक शब्दो मे, त्रैगुण्य विषय है, इसलिए यह स्वय उस तर्क से ही अपना अतिक्रमण करने

---

६ यशदेव शल्य-ज्ञान और सत् मे "मानव-प्रतिमा" अध्याय।

७ ज्योर्ज गैलोवें-दि फिलासफी ऑफ रिलिज्यन, पृ० १४२।

को बाध्य है जो इसको जन्म देता है। इसका अतिक्रमण उपनिषदो मे ही आरम्भ हो चुका था, वह बुद्ध मे आकर केवल अपनी चरमता को प्राप्त हुआ। गैलोवे के अनुसार "पीछे के युगो मे धर्म के रूप मे इसका (बौद्ध धर्म का) जीवन सभव नही होता यदि स्वय बुद्ध की कल्पना पीछे के दिनो मे एक दिव्य सत्व के रूप से नही की गयी होती। बुद्ध को ही इस काल मे पौराणिकता और ईश्वरीय चामत्कारिकता से मडित किया गया और यह कल्पना वह केन्द्र वनी जिसके चारो ओर पूजा-विधियो का सगठन हुआ।"[८] किंतु यह केवल इस बात की पुष्टि करता है कि धर्म का प्रकृष्ट शुद्ध अर्थ केवल कुछ विलक्षण प्रतिभाओ के लिए ही ग्राह्य होता है, साधारण जनो के लिए नहीं होता, उन्हे इस अर्थ का केवल वह रूप ही गम्य हो सकता है जो अपनी स्थूलता के कारण प्रतीक की मूर्तता मे बध सकता हे।

यह बात एक ईसाई सस्कृति के व्यक्ति के लिए समझना कठिन है, क्योकि उसके लिए धर्म और ईश्वर-विश्वास तथा पौराणिकता मे अन्तर कर सकना कठिन है। उसकी यही सीमा "सर्वं दु खम्" और "कर्मबन्ध" के सिद्धान्तो को समझने मे भी बाधक है। गैलोवो के अनुसार, "बौद्ध मत मे एक आत्मप्रसादवाद (यूडेमोनिज म) का अ श भी है, जो दु ख से त्रास के रूप मे व्यक्त होता है। यह अभिवृत्ति व्यक्ति-केंद्रितता की भावना को जन्म देती है, क्योकि जिस लक्ष्य को बौद्ध प्राप्त करना चाहता है वह व्यक्तिगत है, समाज उसके लिए केवल लक्ष्य-सिद्धि मे साधन है। बौद्ध दुखियो पर करुणा करता है और उनके दु ख-निवारण के लिए कार्य भी करता है, किन्तु यह केवल वह आत्म-सयमन और आत्मपूर्णता के लिए करना चाहता है जिससे वह अपनी कामनाओ का शमन कर सके, नकि ससार का कल्मष दूर कर उसे सुघड बनाने के लिए वह करता है। परिणामत उसका धर्म-सम्प्रदाय आशा और प्रेरणा-रहित है और उसमे मानवता के आध्यात्मिक विकास के लिए कोई प्रोत्साहन नही है।"[९]

यह आरोप प्राय ही ईसाइयो की ओर से न केवल बौद्धो पर ही लगाया जाता है वल्कि हिन्दुओ पर भी लगाया जाता है। किन्तु यह केवल

---

८ वही।

९. वही, पृ० १४३।

अपरिचय और ईसाई धर्म को मानदण्ड रखने के कारण है। यदि बुद्ध का "दु ख" से भाव सामान्य सासारिक दु ख होता तो वे अवश्य ही इस दु ख के निवारण के लिए रेडक्रास का सगठन करते और औषधालय खोलने पर बल देते। किन्तु उनका दु ख से अभिप्राय इस दैहिक दु ख से नही था, वे उससे त्रासित नहीं थे और इसलिए उससे प्रभावित भी नही थे। उनका दु ख "आध्यात्मिक" था और इसीलिए उसका निवारण व्यक्तित्व की सीमा के उच्छेद के द्वारा ही हो सकता था। इसका अर्थ यह नही है कि वे दैहिक दु ख के निवारण से अत्यन्त उदासीन थे, अशोक ने इस दिशा मे जो किया उससे यह अनुमान किया जा सकता है कि उनकी करुणा मनुष्य और प्राणियो के दैहिक दु ख के प्रति भी जागरूक थी, किन्तु यह दु ख और इसका निवारण उनके लिए गोण थे। यही बात "मानवता" के आध्यात्मिक उद्धार के सम्बन्ध मे कही जा सकती है। बुद्ध ने दु खी-पीडित जन के प्रति करुणा से, उन्हे निर्वाण का सन्देश देने के लिए ही, अपने पाँच शिष्यो को उपदेश दिया और फिर वे सामान्य रूप से जनोद्धार के कार्य मे प्रवृत्त हुए। किन्तु यहा पुन., उनके लिए मानव अपने आप मे साध्य नहीं था, वह केवल ऐसी चेतना के रूप मे मूल्यवान् था जिसमे भव-कामनाओ से निवृत्ति की अभीप्सा का उदय सभव है।

किसी धर्म के लिए मानव परम मूल्य कैसे हो सकता है जबतक कि वह मानव के मनोदैहिक दु ख-त्रास को वह महत्व नही दे जो गैलोवे समझते हैं कि बुद्ध ने उसे दिया? किन्तु आत्मोत्तीर्णता को परम मूल्य स्वीकार करने वाले के लिये मानव मात्र के लिए वही सन्देश है और इस मूल्य की चिनगी उत्पन्न करना ही उसके लिए मानव-सेवा का परम आदर्श है।

मानव-सेवा का यह लक्ष्य अपनी चरमता मे हमे परिलक्षित होता है भागवत-धर्म मे। यह धर्म पौराणिक प्रतीको से सकुल है, किन्तु भागवत-दार्शनिको के लिए ये मात्र प्रतीक हैं—पूर्णत पारदर्शी। ये उस परम काम्य भगवान की लीला मे उपकरण मात्र हैं, सब उसी की प्रेम-ज्वाला मे सतप्त। मानव ही क्यो, जीव मात्र उसी हुताशन मे अपनी हवि दे सकता है और शुद्ध स्वर्ण बन सकता है। जब सब ससार उसकी लीला है तो सुख-दु ख कैसा, ये सब उस लीलामय के एक कृपा-कटाक्ष से आनन्द मे परिणत हो जाते हैं। यह लीला परम् सत् है, इसलिए सृष्टि का एक मात्र गुण आनन्द है, दु ख-पीडा-क्लेश केवल

इस सत्य को न समझ पाने के कारण हैं, जैसे ही इस सत्य को प्राणी जान लेता है उसका पीडा-क्लात मुख आनन्द के प्रकाश से भास्वर हो उठता है।

× × ×

बौद्ध, औपनिषद और भागवत धर्मों ने भारतीय संस्कृति को गम्भीर रूप से प्रभावित किया और हजारो वर्षों तक इसके जीवन को यह मूल प्रेरणा रहे। वास्तव मे, प्राय सभी बडी सभ्यताओ मे लगभग १००० ई० पू० से धार्मिक-आध्यात्मिक आदर्शों ने मानव-जीवन को आन्दोलित किया और उसे अर्थ और प्राण दिया। जीवन का कोई पक्ष इससे अछूता नही रहा—दर्शन इसकी युक्तता और साधारता सिद्ध करने की प्रक्रिया मे उत्पन्न हुए, कलाऐं और साहित्य इसके सौंदर्य को मूर्तित करने के क्रम मे प्रादुर्भूत हुए, महान जन-सहार इसकी विजय-पताका फहराने के लिए किये गये, समाज-नीति और सामाजिक सम्बन्ध इसके अनुमोदन से अर्थवान् बने, अथवा (जैसे भारत मे), इसके अनुमोदन के बिना छूछे हे। जहां और जब इसकी प्राण-चेतना शिथिल हुई जीवन की सब गति-विधियो को जैसे काठ मार गया, इन युगो मे जितनी महान् प्रतिभाऐं हुई उन्होने इसके माध्यम से अपनी अभिव्यक्ति की और इसके सत्य मे नवीन अन्तर्दृष्टि दी।

इधर यूरोप मे पुनर्जागरण युग के साथ जगत् और जीवन के सम्बन्ध मे एक नयी धारणा का प्रादुर्भाव हुआ, प्रत्यक्ष पर आधारित तर्क और यौक्तिकता को सत् का मानदड माना जाने लगा। इस नव्य दृष्टि ने एक नयी संस्कृति को जन्म दिया, जिसे सोरोकिन ने उचित ही संसेट कल्चर (ऐन्द्रिय सस्कृति) का नाम दिया है। इसके साथ नवीन प्राण-चेतना का विस्फोट हुआ, राजनीति, समाज, नैतिकता, कलाऐं और शिल्प-कौशल इस नयी दृष्टि के प्रकाश मे पुनर्जन्म पाकर नये यौवन की ऊर्जा से आगे बढे। यूरोपवासी इस नये देवता की विजय-पताका लेकर उसी प्रकार विश्व-विजय के लिए बढे जिस प्रकार से अरबवासी मुहम्मद का सदेश प्रसारित करने के लिए बढे थे। देखते ही देखते यन्त्र-कौशल भाप, विद्युत् आदि के सर्जन के रास्ते से होता हुआ आज अणु-परमाणु विज्ञानो के माध्यम से द्यु-लोक मे प्रवेश का पथ प्रशस्त कर रहा है।

इस नयी दृष्टि ने पहली बार, और सफलता के साथ, धर्म को ही नहीं मूल्य मात्र को चुनौती दी। इसके लिए मूल्य मनुष्य की आकाक्षा या

वासना है, उसका सत् आकांक्षा के होने मे है, उसके बाहर उसका कोई सत् नही है। 'उत्कृष्ट' का अर्थ है 'मेरी पसद का', "पसन्द का भाव" सत् है, वह वस्तु सत् है जो पसन्द है, किन्तु "उत्कृष्टता" कहा है? किन्तु तब "पसन्द का भाव" क्या है? इसमे 'पसद-विपय' का बोध निहित है, यह भाव्योन्मुख और सलक्ष है, क्या इसका सत् भाव्य विपय के सत् को सिद्ध नही करता? तार्किक प्रत्यक्षवाद का उत्तर है, यह नही हो सकता, क्योकि केवल नग्न अस्तिता ही सत् है और यह यान्त्रिकता के नियमो से निर्धारित होती है। किन्तु इन नियमो का क्या स्थान है, क्या ये भी नग्न अस्तित्व है? यदि हाँ तब हम इन्हे जानते कैसे हैं? ये प्रत्यक्षगम्य तो होते नही। तब क्या बुद्धिगम्य होत हैं? किन्तु बुद्धिगम्यता की स्वीकृति इसे प्रत्ययवाद मे ला झोकती, इसलिए यह प्रश्न प्रत्यक्षवाद के लिए घातक था, उसने इसका रास्ता काटा और कहा कि केवल सवेद ही सत् है, शेप कल्पना है, यद्यपि कार्य-साधक कल्पना। किन्तु इसकी भी कठिनाइया थी, जिनका समाधान करने मे ये दार्शनिक अभी तक व्यस्त हैं। विज्ञान के लिए तो सवेद भी सत् नही हो सकता, क्योकि वह गुणात्मक है। केवल मात्राएँ ही सत् हो सकती है। इस बीच सत् का विचार छोड कर सार्थकता को कसौटी बनाया गया और कहा गया कि, किसी कथन की सार्थकता उसके ऐन्द्रिय प्रामाण्य-मूलक तत्व मे है। यह कसौटी इसलिए प्रतिपादित की गयी थी कि विज्ञान-विषयक वाक्यो को छोड कर शेप वाक्य निरर्थकता की कोटि मे समाविष्ट किये जा सकें। किन्तु विज्ञान के वाक्यो की सार्थकता उनके लिए इस कसौटी से स्वतन्त्र एव पूर्व-सिद्ध थी; क्योकि जैसे-जैसे पाया गया कि कोई वाक्य-रूप विज्ञान के लिए सार्थक है किन्तु इस कसौटी पर पूरा नहीं उतरता वैसे-वैसे इस कसौटी मे परिवर्तन किया गया, यहा तक कि अब इसमे पहले का प्राय कुछ भी शेप नही बचा है, सिवाय इसके कि इससे मूल्यदृष्टि पर लगुडी-प्रहार किया जा सकता है।

यदि यह दिखाया जा सके कि केवल वैज्ञानिक ज्ञान ही सत्-प्रतिष्ठित है और मूल्य असत्-प्रतिष्ठित है, तब सचमुच धर्म एक प्रवचना हो जायगा और इस युग से पूर्व की मानव की सास्कृतिक यात्रा भ्रात पथो पर भटकने जैसी हो जायगी, सिवाय थोडे से ऐसे अपवादो के जहा ऐहिक जीवन के अभियोजन की दिशा मे कुछ आविष्कार और अनुसन्धान हुए, क्योकि धर्म,

पुराण और विज्ञान के समान ही, सत् की धारणा के साथ प्रवृत्त होता है।[10] किन्तु यह कैसे दिखाया जा सकता है कि धर्म असत्-प्रतिष्ठित है ? यह दिखा कर कि ब्रह्म या ईश्वर या आत्मा आदि केवल कल्पनाएँ हैं ? किन्तु तब वैज्ञानिक सत्ताएं—देश-काल, परमाणु, गुरुत्वाकर्षण आदि क्या हैं ? इनके अनुसार, ये अन्तत सवेद्य विषयो की योजना के सैद्धातिक प्रतिनिधि है। किन्तु तब क्या सवेद्य विषय सत् है ? ये वैज्ञानिक योजना मे सत् नही हैं, क्योकि ये विषयी के आक्षेप हैं। हाँ, ये अर्थ के धारक अवश्य हैं। तब सत् क्या है, कार्य-सामर्थ्य ? शायद। किन्तु तब, धार्मिक सदर्भ मे कार्य-सामर्थ्य की कसौटी भिन्न है, वहाँ अपने व्यक्तित्व का सुघडतम सगठन कर महत्तम आदर्श को सिद्ध करना कार्य है। कार्य की इस धारणा ने मनोजगत् मे कम से कम उतनी ही बडी उपलब्धियाँ सभव की है जितनी विज्ञान भौतिक जगत् मे कल्पना कर सकता है, यह असदिग्ध है। अर्थ की दृष्टि से तो विज्ञान निर्धन है ही, क्योकि इसका अर्थ-जगत् ऐन्द्रिय सवेदो तक सीमित है, अनुभव के अन्य सब आयाम इसकी सीमा के बाहर हैं।[11] धर्म इसमे समृद्धतम है, क्योकि इसमे अनुभव के सब आयाम गभीरता और उत्तानता की पराकाष्ठा के साथ अवगुठित होते है। विज्ञान ने अर्थ की इस निर्धनता के कारण ही, अपनी चामत्कारिक सफलताओ के बावजूद, हमारे युग को अवसन्न और विभ्रात अवस्था मे ला छोडा है।

हमारी सभ्यता विज्ञान और धर्म के सम्बन्ध के नुस्खो के द्वारा मुक्ति नही पा सकती, जैसाकि बहुत से लोग भ्रमवश समझते प्रतीत होते हैं। विज्ञान का धर्म से कोई वास्तव विरोध है ही नही। यह विरोध, और परिणाम मे खेद, तब उत्पन्न होता है जब विज्ञान को जीवन-दृष्टि के रूप मे ग्रहण कर लिया जाता है। विज्ञान का कार्य प्रतिभास के केवल सीमित क्षेत्र का विनियोजन करना है, जब वह सत् का प्रमापक मान लिया जाता है तब दीर्घ पथ का अन्त रेतीले निर्जन मे होना स्वाभाविक है।

यहाँ आपत्ति की जा सकती है कि धर्म ने हमे कम बुरी अवस्था मे नही डाला था—मानवता इसके कारण जडता, मूढता और रोग तथा विपन्नता

---

१० यशदेव शल्य–ज्ञान और सत्, "व्याख्या" अध्याय।

११ द्रष्टव्य पीछे, प्राकृतिक विज्ञान अध्याय।

मे रही और उसने पारलौकिक चिंता को प्रमुखता देकर ऐहिक जीवन की उपेक्षा करदी। किन्तु यह आपत्ति उचित नही है। जडता, मूढता आदि धार्मिक चेतना के उतने ही विपरीत है जितने वैज्ञानिक चेतना के। मूल्यो के ग्रहण के लिए आत्म-बोध का उससे कही अधिक उद्बुद्ध होना आवश्यक है जितना तार्किक और प्रत्यक्षगत वास्तव की गहन तहो के आलोडन के लिए आवश्यक है, क्योकि धार्मिक सत् अपने व्यक्तित्व की साधना मे प्रतिफलित होता है, निस्सग, स्थिर और ठोस वस्तु के विवेचन मे नही। इसलिए धर्म का स्फुरण सदैव अत्यत विरले व्यक्तियो मे ही हुआ और बहुत अपवाद रूप मे ही वह युग की सपत्ति कभी बना। युग केवल उस गुह्यार्थ को समझे बिना उसके स्फुरण से अनुप्राणित प्रतीको की साधना ही करते रहे और तबतक उससे धन्य हुए जबतक यह प्राण उन प्रतीको मे स्पदित रहा। इसलिए यह कहना कि जडता के लिए धर्म उत्तरदायी है, भ्रामक है। जहा तक ऐहिकता की उपेक्षा का प्रश्न है, वह धर्म के लिए ही स्वाभाविक नही है बल्कि सभी स्फूर्त चेतनाओ के लिए स्वाभाविक है। ऐहिकता के प्रति आग्रह से केवल अत्यत निम्न कोटि के मानव की सभावना ही हो सकती है क्योकि यह कामना तो जीव-स्वभाव है, इसको लक्ष्य बनाने की आवश्यकता नही है, इसके लिए केवल लक्ष्यो को भूलने की आवश्यकता ही है। न यह कोई विज्ञान के प्रति आग्रह का ही अनिवार्य परिणाम है कि इससे ऐहिकता चरम मूल्य हो जाय। स्वय महान वैज्ञानिक उतने ही ऐहिक सुखो के प्रति उपेक्षाशील रहते हैं जितने धार्मिक साधक, क्योकि वैज्ञानिक भी एक अमूर्त सुख के प्रति अभिमुख होते हैं। हा, विज्ञान ऐहिक सुख-साधन मे सहायक होता है, और यह भी कि अमूर्त सुख के लिए उसकी पदावली मे कोई स्थान नही होने से यह उनको मूल्यो की चेतना से वचित करता है जो मूल्यो से अनुप्राणित नही हैं। यूरोप आज इस "निरर्थकता" की व्याधि से पीडित है और अन्य देश उस दिशा मे तीव्र गति से बढ रहे हैं।

८

मानव-स्वातंत्र्य

स्वतन्त्रता के प्रश्न पर अनेक सदर्भों मे विचार हो सकता है, किन्तु ये सब सदर्भ दो वर्ग बनाते है अन्यो की इच्छा के शासन से अनधीनता और अपनी प्रकृति के शासन से अनधीनता। एक प्रकार से, प्रथम प्रकार की स्वतन्त्रता दूसरे प्रकार की स्वतन्त्रता को पूर्वापेक्षित करती है, किन्तु यह आवश्यक नही है कि जिसे दूसरे प्रकार की स्वतन्त्रता उपलब्ध है उसे प्रथम प्रकार की स्वतन्त्रता भी उपलब्ध हो। किन्तु यह कहा जा सकता है कि, जिसे दूसरे प्रकार की स्वतन्त्रता उपलब्ध नही है उसके लिए प्रथम प्रकार की स्वतन्त्रता का भी कोई अर्थ नही है।

दर्शन के लिए समस्या केवल दूसरे वर्ग की स्वतन्त्रता को लेकर ही है, क्योकि प्रथम वर्ग की स्वतन्त्रता की समस्यायें या तो व्यावहारिक है अथवा दूसरे वर्ग की समस्याओ पर निर्भर करती हैं।

दूसरे वर्ग की समस्याओ का स्रोत एक अनुभूत वस्तुस्थिति का एक मौलिक बौद्धिक कोटि से विरोध है। यह बौद्धिक कोटि है कारण-कार्य सम्बन्ध की। प्रत्येक घटना अथवा अवस्था किसी अन्य घटना अथवा अवस्था का कार्य है। यह जितना भौतिक घटनाओ के लिए सही है उतना ही मानसिक घटनाओ के लिए भी सही है। यद्यपि मानसिक घटनाओ को कारण-कार्यात्मक सन्दर्भ के बजाय प्रयोजनात्मक सन्दर्भ मे भी समझा जाता है, किन्तु तात्कालिक सुविधा के लिए हम इसे भी एक अन्य प्रकार का कारण-कार्य सम्बन्ध मान सकते हैं। कारण-कार्य सन्दर्भ मे प्रत्येक घटना अन्य घटना का कार्य होने से कोई घटना प्रथम नही हो सकती और न उसका अपना कोई तन्त्र ही हो सकता है—उसका कोई परिच्छिन्न स्वरूप नही हो सकता। किन्तु हम अपने आन्तर अनुभव मे एक परिच्छिन्नता का अनुभव करते है, हमे प्रतीत होता है कि क्रिया का कारण "मेरा" सकल्प है और मेरे सकल्प का अन्य कोई

नियोजक नही है।

किन्तु इस अनुभूत परिच्छिन्नता का बहुत आसानी से प्रत्याख्यान किया जा सकता है यह दिखाया जा सकता है कि यह संकल्प किसी प्रयोजन से नियोजित है, प्रयोजन हमारी किसी कामना का पूरक है, कामना किसी अन्य कारण से—शारीरिक से या अन्य कामना से अथवा आवेग से—नियोजित है, और ये किसी अन्य विषय से या उद्दीपन से नियोजित हैं। इसी प्रकार से, मनुष्य को या ईश्वर को आदि-कारण के रूप मे प्रतिष्ठित करने के प्रयत्न भी कोई समाधान करते प्रतीत नही होते, उनमे एक प्रकार की याद्दच्छिकता दिखाई देती है। अरस्तू की इस स्थापना मे कि डण्डा पत्थर को हिलाता है और यह स्वय हाथ से हिलाया जाता है, और हाथ को मनुष्य हिलाता है (फिजिक्स, २५६ ए) तथा न्याय द्वारा ईश्वर को जगत् के निमित्त कारण के रूप मे कल्पना करने और स्वय उसके निमित्त कारण के रूप मे किसी की माग नही करने मे ऐसी ही याद्दच्छिकता दिखाई देती है। मेरा यह कहना नही है कि हाथ को हिलाने वाले मनुष्य को कोई प्रेरित नही करने वाला होना असम्भव है, किन्तु यह विचार जिस बौद्धिक कोटि (कारणता) के अन्तर्गत कल्पित है उसी पर सीमा लगाता है, जिसका उसके अन्तर्गत कोई औचित्य नही है।

किन्तु कारणता का निषेध स्वतन्त्रता नही अनिर्धारितता देता है—यदि सब घटनाए, या कुछ घटनाए, अन्य घटनाओ की कार्य नहीं है तब वे 'स्वतन्त्र' है, ऐसा कहना उचित नही है, तब वे अनिर्धारित कही जायगी, अर्थात् उनके सम्बन्ध मे कोई नियम सभव नही होगा, यद्यपि आगमनात्मक अनुमान, कम से कम साख्यिकीय, प्रकार का, सम्भव होगा। ह्यूम तथा चार्वाको की घटनाए इसी प्रकार की है, आधुनिक अनुभववादियो को भी यही अभिमत है।

यहा उन लोगो की भूल भी देखी जा सकती है जो मानव-स्वतन्त्रता को मनुष्य की नकारने की सामर्थ्य मे, भविष्यवाणियो को झुठलाने की सामर्थ्य मे, देखते है। मनुष्य की नकारने की सामर्थ्य का स्रोत आवश्यक रूप से उसकी स्वतन्त्रता का सूचक नहीं है, क्योकि नकारना केवल विशेष उद्दीपनो की विशेष प्रतिक्रिया मात्र हो सकता है, और न भविष्यवाणियो को झुठलाना ही स्वतन्त्रता का सूचक है, क्योकि यह हाइजनबर्ग के परमाणु भी करते हैं। अनिर्धारिततावाद की कुछ और भी कठिनाइयां है : अनिर्धारितता-

वाद के लिए यह आवश्यक है कि वह केवल 'मनुष्य' को अनिर्धारित माने और उसके शरीर तथा अन्य विषय-वस्तुओ को निर्धारित माने। क्योकि यदि शरीर और वस्तुए भी अनिर्धारित होगी तब मेरे हाथ उठाने का सकल्प करने पर यह सम्भव होगा कि हाथ नही उठे, और डण्डे के लिए यह सम्भव होगा कि वह पत्थर के ससर्ग मे नही आए, अथवा पत्थर के लिए यह सम्भव होगा कि वह डण्डे से नही हिले। उस अवस्था मे मनुष्य की स्वतन्त्रता न केवल निष्फल होगी बल्कि वह अकल्पनीय भी होगी, क्योकि कोई नियम नही होगा जिसे यह स्वतन्त्रता नकारेगी। पुन, यदि नकारने की सामर्थ्य केवल अनिर्धारितता है तब स्वय सकल्प भी कर्त्ता के वश मे नही होगा। इसलिए स्वतन्त्रता के प्रश्न को कारणता और अकारितता के सन्दर्भ मे देखना ही अनुचित है।

× × ×

मै अपनी ज्ञानमीमासा मे घटनाओ, वस्तुओ तथा अर्थो को चैतन्य की विभिन्न वृत्तियो के रूप मे कल्पित करता हू, किन्तु इस ज्ञानमीमासा के अनुसार, चैतन्य का अपना कोई स्वरूप नही है। उसका स्वरूप वृत्तियो के स्वरूप मे ही परिलक्षित होता है। अथवा, तात्विक पदावलो मे कहे तो, 'चैतन्य' 'वृत्ति' का ही एक विश्लिष्ट पक्ष है, अथवा कहे, 'वृत्ति-प्रत्यय' 'चैतन्य-प्रत्यय' का समावेशी है। हमारे लिए 'वृत्ति' और 'विषय' पद पूर्णत. समानार्थी हैं। इस प्रकार से, चैतन्य विषय का आकार है, यदि हमे गलत नही समझा जाय तो हम कहेगे, तार्किक आकार है। 'तार्किक आकार' कहने से हमारा यह अभिप्राय नही है कि विषयो के स्वरूप का निर्धारण तार्किक बुद्धि से होता है, बल्कि यह कि विषयो के आकार को बुद्धि ही उनसे विश्लिष्ट करती है। ये विश्लिष्ट आकार विभिन्न कोटिया बनाते है, 'बुद्धि' स्वय एक विश्लिष्ट आकार की सज्ञा ही है और परिणामत वृत्तियो अथवा विषयो की एक कोटि है। इसी प्रकार से 'मनुष्य' और 'पशु' भी विश्लेषणात्मक कल्पनाए हैं, अथवा कहे, तार्किक कोटिया हैं। इस प्रकार से 'आहार निद्रा भय मैथुन च, सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्' का हमारी पदावली मे अनुवाद होगा, 'इस कोटि के विषय पाशव विषय हैं,' थोडो और विश्लेषणात्मक पदावली मे कहा जाय तो—जब चैतन्य इन कोटियो के विषयो मे अधिष्ठित होता है तब वह पाशव-चैतन्य होता है। मानव-चैतन्य की

वृत्तिया सरचनात्मक (स्ट्रक्चरल) अर्थ-मूलक होती है।

कारणता, जिसे वस्तु-विश्व के, अथवा सम्पूर्ण प्रतिभास के ही, स्वभाव के रूप मे कल्पित किया जाता है, स्वय सरचनात्मक अर्थमूलक एक कोटि है। यह कोटि एक प्रकार के विषयो का निर्माण करती है। विषयो के अनेक अवधारण-प्रकार है, और इन अन्य, अर्थात् कारण-कार्येतर, अवधारण-प्रकारो के अन्तर्गत विषय निर्धारित या अनिर्धारित नही होते। इन अन्य प्रकार के विषयो को प्रतीकात्मक या सरचनात्मक विषय कहा जा सकता है। विज्ञान, गणित, भाषा, सगीत, चित्रकला आदि ये सब इसी प्रकार के विषय है। स्वय कारणता भी इसी प्रकार का विषय है, क्योकि यह सरचनात्मक व्यापार है जो उन विषयो का धारण करता है जिन्हे हम कारण-शृखलाबद्ध देखते है। इस प्रकार से, मेरे हाथ का हिलना कारण-नियम-शासित है, मेरी इच्छाए भी कारण-नियम शासित है, किन्तु इनको इन नियमो मे शासित देखने वाला मैं इस नियम से शासित नही हू, क्योकि यह नियम स्वत कारण-कार्यात्मक नही है। यही गणित के लिए भी सही है—यह कारण-कार्यात्मक नियम-शासित नही है।

सरचनात्मक अर्थ के विषयो मे एक अनिवार्यता रहती है, इनमे एक स्थिति, घटना या समग्र का आकार सरचना के नियम की अनिवार्यता को धारण किये रहता है, किन्तु यह अनिवार्यता नियोजनात्मक नही होती। उदाहरणत, यदि ख क का कार्य है तो क मे ख के सम्बन्ध मे नियोजनात्मक शक्ति है, यदि पत्थर को डण्डे की धकेल हिला सकती है तो डण्डे की धकेल पत्थर के हिलाने को नियोजित करती है, यदि मलेरिया के कीटाणु शरीर मे ज्वर उत्पन्न करते हैं तब ज्वर उनसे नियोजित होता है, यदि मेरा अवसर विशेष पर क्रुद्ध होना विशेष उद्दीपनो-जन्य शरीर-क्रिया का व्यापार है तो वे मेरे क्रुद्ध होने को नियोजित करते हैं। कुछ लोगो को 'नियोजन' शब्द पर आपत्ति होगी, मेरा उसके लिए कोई आग्रह नही है, यद्यपि 'निर्धारित' शब्द मे यह शब्द निहित है। यहाँ द्रष्टव्य यह है कि क ख के 'घटित होने' को उस प्रकार से अनिवार्य करता है जिस प्रकार से '२+२=' '४' को नही करता है, अथवा जैसे भारतीय सगीत भैरवी राग के होने को अनिवार्य नही करता है, यद्यपि इनके घटित होने के लिए यह अनिवार्य है कि एक सरचनात्मक सस्थान (गणित का, भारतीय सगीत का, राग भैरवी का) विद्यमान हो।

सरचनात्मक अर्थ की विशेषता उसके वास्तव और आदर्श रूपो मे तनाव होने मे है। प्रत्येक सरचनात्मक अर्थ एक आत्यन्तिक समजसता और आत्यन्तिक व्यापकता को आक्षिप्त करता है, जिसे व्यवहार मे हम न्यूनाधिक ही सिद्ध कर पाते हैं। आर्केस्ट्रा मे एक समजस एकत्व रहता है, किन्तु जबकि आत्यतिक समजसता आर्केस्ट्रा की आत्मा है व्यवहार मे आत्यन्निक समजसता केवल एक आदर्श है जिसे चरितार्थ करने का प्रयत्न आर्केस्ट्रा का सयोजक कलाकार जीवन भर करता है। यह उतना ही सही तान और नृत्य के लिए भी है—कलाकार की साधना कभी पूरी नही होती। किन्तु तब भी, पूर्ण समजसता तान, नृत्य और आर्केस्ट्रा की आत्मा है, यह इनके जन्म के साथ ही उपजती है, यह केवल अभिव्यक्ति के प्रयत्न मे, अपने चरितार्थन की प्रक्रिया मे, अनुपलब्ध रहती है। यही बात सिद्धान्त के लिये भी कही जा सकती है। सिद्धान्त की आत्मा उसकी तार्किक समजसता मे और आत्यन्तिक व्यापकता मे है, इसके लिये यह स्वाभाविक है कि इसका जन्म आत्यन्तिक सामजस्य और पूर्णता के साथ हो, किन्तु इसकी यह निहित समजसता और पूर्णता अपने चरितार्थन की प्रक्रिया मे केवल अपूर्णत ही उपलब्ध होती है। इस प्रकार से, जबकि मूल मे पूर्ण समजसता और पूर्णता इनका स्वभाव है अभिव्यक्ति मे यह केवल पार्यन्तिक कल्पना है, जिसके हम समीप से समीपतर पहुच सकते है किन्तु जिसे हम प्राप्त नही कर सकते। सरचनात्मक अर्थों के आदर्श रूप की यह अचरितार्थ सत्ता अपने अन्तर्गत सब प्रयत्नो, कल्पनाओ या अवधारणाओ को एक अनिवार्यता देती है, क्योकि इनके अन्तर्गत सब प्रयत्न इनके आदर्श रूप का अनुसरण किये बिना अप्रतिष्ठित रहते है, किन्तु यह अनिवार्यता वाध्यतापरक नहीं है—कोई तर्क मे वदतोव्याघात कर सकता है, कोई बेसुरा गा मकता है, कोई गलत गुणा-भाग कर सकता है—वास्तव मे इस आदर्श के पार्यन्तिक होने का अर्थ ही है कि हम सदैव न्यूनाधिक वेसुरा गाते है, हम सदैव वदतोव्याघात की सम्भावना के साथ तर्क करते है, अनेक मानव-सन्ततिया इस पूर्णता की ओर निरन्तर प्रयत्नरत रह कर भी अपनी अपूर्णता के वोध से विकल रहती है।

मनुष्य की वास्तविक स्वतन्त्रता का स्रोत यह सरचनात्मक (स्ट्रक्चरल) अर्थ ही है, क्योकि यह मनुष्य को स्वत्व के लिए अपेक्षित 'तन्त्रमयता' देता है। वास्तव मे तन्त्रमयता स्वत्व की पूर्वापेक्षा है, क्योकि अन्यथा 'स्वत्व' के

लिए अपेक्षित एकत्व असम्भव होगा। यह एकत्व कारण-शृंखला या उसक निषेध दोनो ही नही दे सकते, क्योकि कारण-शृंखला घटनाओ का कारर घटनाओ मे अन्तर्भाव कर देती है और कारण-शृंखला का निषेध घटन अथवा वस्तुस्थिति को स्वभाव-हीन बना देता है। इसीलिये न पत्थर स्वतन्त्र हैं, न पशु और न हाइजन्बर्ग के परमाणु।

किन्तु सरचनात्मक अर्थ जबकि स्वतन्त्रता दे सकता है यह स्वत "व्यक्ति" को देने के लिए पर्याप्त नही है, क्योकि इसकी अन्तर्वस्तु (काटेन्ट) सार्वभौमिक होती है। गणित अथवा उसकी कोई प्रतिपत्ति, भारतीय शास्त्रीय सगीत अथवा राग मल्हार, अथवा उसका कोई स्वर-सयोजन, सार्वभौम हैं—ये देश-काल-व्यक्ति निरपेक्ष हैं, व्यक्ति इनमे भाग ले सकते है, ये किसी व्यक्ति मे अद्वितीयत भाग नही लेते। इस प्रकार से, जब ये चैतन्य की वृत्ति के रूप मे प्राप्त होते हैं तब चैतन्य स्वतन्त्र तो होता है किन्तु यह वृत्ति उसे वैयक्तिकता, अथवा वैयक्तिक स्वत्व, नही देती, यह उसे सर्वत्व देती है, यह उसे एक या दूसरे ब्रह्म मे लीन करती है—गणित-ब्रह्म मे या नाद-ब्रह्म मे।

स्वत्व के अधिष्ठान के लिये एक ऐसे अनुभूत एकत्व की अपेक्षा होती है जिसके अक्ष पर विभिन्न अनुभूतिया और अर्थ अरो के समान अवस्थिति हो सकें, अथवा जो विभिन्न अनुभूतियो और अर्थों मे प्रविष्ट होकर उन्हे अद्वितीय सस्थान अथवा आकृति दे सकता हो। सस्कृतियो मे ऐसे एकत्व की अन्तर्वस्तु एक सर्व-सयोजक जीवन-दर्शन होता है, जैसे भारतीय सस्कृति का ब्रह्म था और आधुनिक पाश्चात्य सस्कृति का भौतिक विज्ञान है।

किन्तु व्यक्ति के अनुभूत एकत्व की अन्तर्वस्तु क्या है ? एक उत्तर हो सकता है—अभिमान, जो स्मृतियो और अपेक्षाओ से, तथा इन स्मृतियो और अपेक्षाओ के अधिष्ठाता होने के बोध से, घटित होता है। (इस तीसरे घटक के बिना शरीर भी व्यक्तित्व के पद का दावा कर सकता है।) किन्तु यह अभिमान, यदि स्मृतिया केवल इच्छा और प्रत्यक्षमूलक ही हैं तो, व्यक्ति की स्वतन्त्रता के लिए पर्याप्त नही है, क्योकि स्मृतियो, प्रत्यक्षो और अपेक्षाओ का अधिष्ठातृत्व उसे शरीराधिष्ठित करता है, अर्थात् इस अभिमान का अधिष्ठान शरीर-वृत्ति होता है, इसमे अधिष्ठाता शरीर से अपना अभेद-स्थापन करता है। परिणामत यह अभिमान कारण-कार्यात्मक होता है। अधिकाश

व्यक्ति, और अधिकाश मे सब व्यक्तियो का स्वरूप या स्वत्व, कारण-कार्यात्मक ही होता है और अतएव उन अवस्थाओ मे व्यक्ति स्वतन्त्र नही होता।

व्यक्ति उस समय स्वतन्त्र होता है, अथवा व्यक्ति का स्वातन्त्र्य उस अवस्था मे उपलब्ध होता है, जब चैतन्य ऐसी अभिमान-वृत्ति मे अधिष्ठित होता है जो कारण-कार्यात्मक सदर्भान्तर्गत नही है, जो सरचनात्मक अर्थ के अन्तर्गत है। यह अभिमान चैतन्य को शरीर-वृत्ति मे स्थित नही करता, यह उसे कारण-कार्य-बाह्य व्यवस्था मे अधिष्ठित करता है। इस सरचनात्मक अर्थ की व्यवस्था मे अभिमान वास्तव कर्त्तृत्व प्राप्त करता है, क्योकि यहा वह अर्थो के सर्जन की प्रक्रिया मे, अथवा कहे उनके वास्तवीकरण की प्रक्रिया मे, अपना साक्षात् करता है। तर्क या दर्शन या विज्ञान की किसी समस्या का समाधान और कुछ नही है सिवाय पूर्ण विज्ञान, पूर्ण दर्शन आदि की दिशा मे अग्रसरता के। सरचनात्मक अर्थों के बिना कर्त्तृत्व की सम्भावना नही हो सकती और कर्तृत्व के बिना सरचनात्मक अर्थ असम्भव हैं, ये परस्परानुपगी है। इस प्रकार से, सरचनात्मक अर्थ सार्वभौमिक होते हुए भी कर्त्तृत्वाभिमान पर, व्यक्ति पर, (अथवा सस्कृति पर), अपने अस्तित्व के लिए निर्भर करते हैं। इस प्रकार से, व्यक्ति करणीय अर्थों मे और अर्थ कर्त्ता व्यक्ति मे जन्म लेते हैं।

सरचनात्मक अर्थो की सार्वभौमता व्यक्ति को देश-काल निरपेक्ष बनाती है, यद्यपि वास्तवीकरण अथवा कर्म काल को पूर्वापेक्षित करते है। वास्तवीकरण एक निरन्तर प्रक्रिया है जो व्यक्ति को जन्मातरो मे ले जाती है और सस्कृतियों मे परम्पराओ को जन्म देती है। किन्तु कर्त्तृत्वाभिमान की समृद्धि पर कोई मर्यादा नही लगाई जा सकती, यह कितना भी समृद्ध हो सकता है है और कितना भी निर्धन हो सकता है। यह बुद्ध और वाल्मीकि की समृद्धि मे एक ओर, तथा सततियो द्वारा रचित महाभारत तथा बौद्ध मूर्तिकला मे दूसरी ओर, देखा जा सकता है।

अभिमान के उपरोक्त निरूपण से स्पष्ट है कि यह सस्कृति और व्यक्ति की सामान्य विशेषता है। मेरे विचार मे, व्यक्ति और सस्कृति मे इस दृष्टि मे कोई मौलिक अन्तर नही होता। यह अन्तर केवल एक मे सवेदन होने

लिए अपेक्षित एकत्व असम्भव होगा। यह एकत्व कारण-शृखला या उसका निषेध दोनो ही नही दे सकते, क्योकि कारण-शृखला घटनाओ का कारण-घटनाओ मे अन्तर्भाव कर देती है और कारण-शृखला का निषेव घटना अथवा वस्तुस्थिति को स्वभाव-हीन बना देता है। इसीलिये न पत्थर स्वतन्त्र है, न पशु और न हाइजन्वर्ग के परमाणु।

किन्तु सरचनात्मक अर्थ जबकि स्वतन्त्रता दे सकता है यह स्वत "व्यक्ति" को देने के लिए पर्याप्त नही है, क्योकि इसकी अन्तर्वस्तु (काटेन्ट) सार्वभौमिक होती है। गणित अथवा उसकी कोई प्रतिपत्ति, भारतीय शास्त्रीय सगीत अथवा राग मल्हार, अथवा उसका कोई स्वर-सयोजन, सार्वभौम हैं—ये देश-काल-व्यक्ति निरपेक्ष है, व्यक्ति इनमे भाग ले सकते हैं, ये किसी व्यक्ति मे अद्वितीयत भाग नही लेते। इस प्रकार से, जब ये चैतन्य की वृत्ति के रूप मे प्राप्त होते है तब चैतन्य स्वतन्त्र तो होता है किन्तु यह वृत्ति उसे वैयक्तिकता, अथवा वैयक्तिक स्वत्व, नही देती, यह उसे सर्वत्व देती है, यह उसे एक या दूसरे ब्रह्म मे लीन करती है—गणित-ब्रह्म मे या नाद-ब्रह्म मे।

स्वत्व के अधिष्ठान के लिये एक ऐसे अनुभूत एकत्व की अपेक्षा होती है जिसके अक्ष पर विभिन्न अनुभूतिया और अर्थ अरो के समान अवस्थिति हो सकें, अथवा जो विभिन्न अनुभूतियो और अर्थो मे प्रविष्ट होकर उन्हे अद्वितीय सस्थान अथवा आकृति दे सकता हो। सस्कृतियो मे ऐसे एकत्व की अन्तर्वस्तु एक सर्व-सयोजक जीवन-दर्शन होता है, जैसे भारतीय सस्कृति का ब्रह्म था और आधुनिक पाश्चात्य सस्कृति का भौतिक विज्ञान है।

किन्तु व्यक्ति के अनुभुत एकत्व की अन्तर्वस्तु क्या है? एक उत्तर हो सकता है—अभिमान, जो स्मृतियो और अपेक्षाओ से, तथा इन स्मृतियों और अपेक्षाओ के अधिष्ठाता होने के बोव से, घटित होता है। (इस तीसरे घटक के बिना शरीर भी व्यक्तित्व के पद का दावा कर सकता है।) किन्तु यह अभिमान, यदि स्मृतिया केवल इच्छा और प्रत्यक्षमूलक ही हैं तो, व्यक्ति की स्वतन्त्रता के लिए पर्याप्त नही है, क्योकि स्मृतियो, प्रत्यक्षो और अपेक्षाओ का अधिष्ठातृत्व उसे शरीराधिष्ठित करता है, अर्थात् इस अभिमान का अधिष्ठान शरीर-वृत्ति होता है, इसमे अधिष्ठाता शरीर से अपना अभेद-स्थापन करता है। परिणामत यह अभिमान कारण-कार्यात्मक होता है। अधिकाश

व्यक्ति, और अधिकाश मे सब व्यक्तियो का स्वरूप या स्वत्व, कारण-कार्यात्मक ही होता है और अतएव उन अवस्थाओ मे व्यक्ति स्वतन्त्र नही होता।

व्यक्ति उस समय स्वतन्त्र होता है, अथवा व्यक्ति का स्वातन्त्र्य उस अवस्था मे उपलब्ध होता है, जब चैतन्य ऐसी अभिमान-वृत्ति मे अधिष्ठित होता है जो कारण-कार्यात्मक सदर्भान्तर्गत नही है, जो सरचनात्मक अर्थ के अन्तर्गत है। यह अभिमान चैतन्य को शरीर-वृत्ति मे स्थित नही करता, यह उसे कारण-कार्य-बाह्य व्यवस्था मे अविष्ठित करता है। इस सरचनात्मक अर्थ की व्यवस्था मे अभिमान वास्तव कर्तृत्व प्राप्त करता है, क्योकि यहा वह अर्थो के सर्जन की प्रक्रिया मे, अथवा कहे उनके वास्तवीकरण की प्रक्रिया मे, अपना साक्षात् करता है। तर्क या दर्शन या विज्ञान की किसी समस्या का समाधान और कुछ नही है सिवाय पूर्ण विज्ञान, पूर्ण दर्शन आदि की दिशा मे अग्रसरता के। सरचनात्मक अर्थो के बिना कर्तृत्व की सम्भावना नही हो सकती और कर्तृत्व के बिना सरचनात्मक अर्थ असम्भव हैं, ये परस्परानुषगी हैं। इस प्रकार से, सरचनात्मक अर्थ सार्वभौमिक होते हुए भी कर्तृत्वाभिमान पर, व्यक्ति पर, (अथवा सस्कृति पर), अपने अस्तित्व के लिए निर्भर करते हैं। इस प्रकार से, व्यक्ति करणीय अर्थों मे और अर्थ कर्ता व्यक्ति मे जन्म लेते हैं।

सरचनात्मक अर्थो की सार्वभौमता व्यक्ति को देश-काल निरपेक्ष बनाती है, यद्यपि वास्तवीकरण अथवा कर्म काल को पूर्वापेक्षित करते हैं। वास्तवीकरण एक निरन्तर प्रक्रिया है जो व्यक्ति को जन्मातरो मे ले जाती है और सस्कृतियो मे परम्पराओ को जन्म देती है। किन्तु कर्तृत्वाभिमान की समृद्धि पर कोई मर्यादा नही लगाई जा सकती, यह कितना भी समृद्ध हो सकता है है और कितना भी निर्धन हो सकता है। यह बुद्ध और वाल्मीकि की समृद्धि मे एक ओर, तथा सततियो द्वारा रचित महाभारत तथा बौद्ध मूर्तिकला मे दूसरी ओर, देखा जा सकता है।

अभिमान के उपरोक्त निरूपण से स्पष्ट है कि यह सस्कृति और व्यक्ति की सामान्य विशेषता है। मेरे विचार मे, व्यक्ति और सस्कृति मे इस दृष्टि से कोई मौलिक अन्तर नही होता। यह अन्तर केवल एक मे सवेदन होने

तथा दूसरे मे नही होने मे है ।* इस प्रकार व्यक्तित्व मे सवेदन एक अनिवार्य घटक हो जाता है, किन्तु जैसा कि ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है, यह अत्यन्त क्षुद्र घटक है ।

× × ×

कर्त्तृत्व का उपरोक्त विवेचन व्यक्ति के स्वतन्त्र निर्णय के प्रत्यय की भी अधिक उचित व्याख्या करता है और इसे, इस निर्णय को, व्यापक परिप्रेक्ष्य मे रखता है । 'स्वतन्त्र' निर्णय को नैतिक कर्म के सन्दर्भ मे देखा गया है, अर्थात् कर्म के औचित्य-अनौचित्य के सन्दर्भ मे । क्योकि यदि कर्त्ता स्वतन्त्र है तभी उसके कर्म को उचित या अनुचित कहा जा सकता है । इस प्रकार से, 'क का कर्म र उचित है' का अर्थ है 'क ने अपने स्वतन्त्र निर्णय से यह कर्म किया ।' यह सही है, किन्तु यहा 'स्वतन्त्रता' का अर्थ स्पष्ट नही है । मेरे विचार मे, यहा 'स्वतन्त्रता' का सर्वस्वीकृत अर्थ होगा इच्छाओ, वासनाओ, सस्कारो आदि से ऊपर उठ कर विशुद्ध विवेकपूर्वक निर्णय । किन्तु तब क को 'अनुचित' कर्मों के लिए उत्तरदायी नही ठहराया जा सकता, क्योकि 'अनुचित' कर्म केवल वह होगा जो व्यक्ति वासनाओ आदि की अधीनता मे करेगा । किन्तु वासनाओ आदि के अधीन कर्म करता हुआ व्यक्ति स्वतन्त्र नही कहा जा सकता और परिणामत उत्तरदायी भी नही कहा सकता । गलत विमर्श को 'अनुचित' नही कहा जा सकता, उसे भ्रान्त कहा जा सकता है । सभवत 'अनुचित' कर्म उस व्यक्ति के कर्म को कहा जायगा जो उचित करने म समर्थ हो, जो विवेक कर सकने पर भी वासनाओ का अनुसरण करता हो । जो भी हो, यहा कठिनाई स्पष्ट है विवेक को केवल सामर्थ्य स्वतन्त्रता नही है—

* मुझे अब ऐसा लगता है कि सस्कृति और व्यक्ति मे इस आधार पर भी भेद नही किया जा सकता, क्योकि सवेद न तो व्यक्तित्व का अनिवार्य घटक है और न सस्कृति का, यह केवल अभिव्यक्ति का, अथवा कहे ज्ञप्ति का, माध्यम होता है, और यह माध्यम जितना व्यक्तित्व की ज्ञप्ति का होता है उतना ही और उसी प्रकार से सस्कृति की ज्ञप्ति का भी होता है । कालिदास का काव्य कालिदास के व्यक्तित्व और भारतीयता दोनो की मुद्राओ का समान रूप से वाहक है और दोनो अपनी ज्ञप्ति के लिये बराबर सवेद्र का माध्यम ग्रहण करते हैं ।

यह कहने वाले दुर्योधन को कि "जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्ति जानामि पाप न च मे निवृत्ति" स्वतन्त्र नही कहा जा सकता।

किन्तु यह कठिनाई 'उत्तरदायित्व' को बाहर से आकने पर जैसी रहती है वैसी स्वय कर्त्ता की ओर से आकने पर नही रहती—नैतिक कर्त्तृत्व व्यक्ति के अपनी प्रतिमा के अर्थ का अनुसरण करने अथवा उससे भ्रष्ट होने मे है,[३] —विवेक का अनुसरण नही कर पाना मुझे मेरी असामर्थ्य दिखाता है और परिणामत ग्लानि उत्पन्न करता है। यह असामर्थ्य व्यक्ति मे किसी नैसर्गिक न्यूनतामूलक नही होती—मेरा उत्कृष्ट नही गा सकना मुझ मे ग्लानि उत्पन्न नही करेगा, खेद उत्पन्न कर सकता है, ग्लानि कर्त्तृत्व मे भ्रष्ट होने से उत्पन्न होती है, जो कर्त्तृत्व स्वय मेरी प्रतिमा के सर्जन मे प्रतिफलित होता है। इस प्रकार से, सत्य बोलने मे मेरा इस कारण से सकोच कि इसके परिणाम मेरे परिवार के लिए घातक होगे, मुझ मे इसलिए ग्लानि उत्पन्न करेगा क्योकि मै अपने मे इतना साहस नही बटोर पाया। इसी प्रकार से, मेरे सगीताभ्यास मे इसलिये शिथिलता रहना कि मै अपने आप को सामान्य मनोविनोद से नही रोक सका, मुझ मे ग्लानि उत्पन्न करेगा। दोनो का अनौचित्य एक ही प्रकार का है, एक ही स्तर का चाहे नही हो। स्तर का यह अन्तर परीक्षा के महत्व से आता है

व्यक्ति की अपनी प्रतिमा कर्त्तृत्वाभिमान के आत्मसाक्षत्कार मे उपलब्ध होती है। कर्त्तृत्वाभिमान के आत्मसाक्षात्कार का अर्थ कर्मो के अधिष्ठाता के रूप मे अपने अर्थ की परिपृच्छा है। इसके सरचनात्मक अर्थ होने से इसमे पुन आदर्श पूर्णता और वास्तव अपूर्णता का तनाव रहता है। किन्तु यह तनाव हमारी सम्पूर्ण सत्ता को आवेष्टित करता है, क्योकि यहा समग्र कर्मो का अनुशासन अभिप्रेत होता है। किन्तु यहा एक अन्य कठिनाई उपस्थित होती है—'अपने कर्मों' का क्या अर्थ है? क्या वे सब कर्म "मेरे कर्म" हैं जिनके साथ "मेरी अभिमान-वृत्ति" सयुक्त है? किन्तु अभिमान-वृत्ति उन कर्मो के साथ भी सयुक्त होती है जिनका अधिष्ठातृत्व मुझे प्राप्त नही है—स्वप्न इसका स्पष्टतम उदाहरण है, वे अन्य कर्म दूसरे उदाहरण हैं जिनमे

३ ज्ञान और सत् मे मानव-प्रतिमा अध्याय तथा पीछे नैतिक मूल्य अध्याय द्रष्टव्य।

मैं अपनी प्रतिमा से भ्रष्ट होता हू। यदि वे "मेरे" ही कर्म हैं तब "मेरी" स्वतन्त्रता का क्या अर्थ है? क्या मैं अपनी आदर्श प्रतिमा हू या कि वह सम्पूर्ण हू जिसमे तथाकथित भ्रष्ट कर्मों का भी समावेश है?

इस कठिनाई का समाधान सहज नही है, किन्तु यह उसी दिशा मे मिल सकता,है जिसमे अन्य सरचनात्मक विषयो के वास्तव और आदर्श रूपो मे अन्तर का। ,मेरी प्रतिमा से भ्रष्ट कर्म उसी प्रकार से मेरी वास्तव सत्ता के अ ग होते हैं जिस प्रकार से किसी गाये जा रहे राग के विसवादी स्वर— विसवादी स्वर,राग के अ ग नही होते, किन्तु गाये गये राग के अ ग होते हैं। ठीक यही स्थिति अननुशासित, प्रतिमा-भ्रष्ट, कर्मों की है, ये 'मेरे' होते हैं और नही भी होते—मै अपना स्वरूप इनको सवादी बनाकर प्राप्त करता हू। इस आत्यन्तिक सवादिता मे ही मानव-कर्म की और निर्णय की स्वतन्त्रता निहित है, जो वास्तव मे अपूर्णत. ही उपलब्ध रहती है।

अनुक्रमणिका